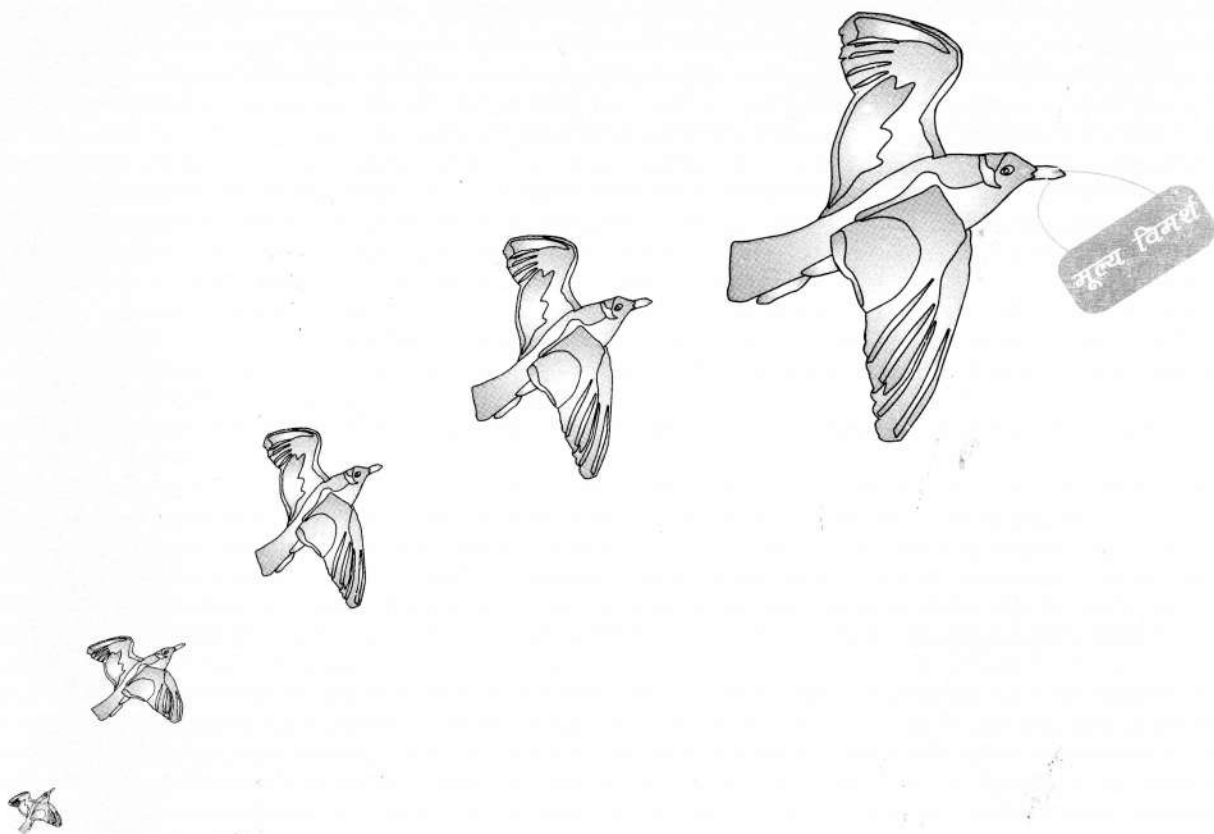


मूल्य विमर्श

भारत के नव निर्माण में एक कदम...

वर्ष १ अंक १ जनवरी-जून, २००६



मेरा आदर्श अवश्य ही थोड़े से शब्दों में कहा जा सकता है, और वह है—
मनुष्य जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के
प्रत्येक क्षेत्र में उसे प्रकट करने का उपाय बताना । – स्वामी विवेकानन्द



बोलो धर्मराज

एक

संतुष्ट न हो जाओ
केवल एक यक्ष के प्रश्नों के उत्तर देकर
आओ हमारे पास आओ
हम सब भी तो हैं एक-एक यक्ष
हम सब के अन्दर भी तो
कोई न कोई प्रश्न कौंध रहा है
जिसका उत्तर
न किताबों में है
न धर्मशास्त्र में है
न समाज के पास है
न व्यवस्था के पास है
और न खुद हमारे पास ही है
हमारे इन प्रश्नों का उत्तर दे सकोगे?
और यदि दे सकोगे तो कब दोगे?
बोलो धर्मराज, बोलो?

दो

यदि पूरा 'सिस्टम'
उलट-पुलट हो रहा हो
ऊपर का नीचे
और नीचे का ऊपर,
सारे मूल्य बदल रहे हों
तो आम आदमी
कहाँ खड़ा हो?
ऊपर, नीचे या मध्य में?
किन मूल्यों को तलाशे?
बोलो धर्मराज?

तीन

आज शक्ति को बटोरने के लिए
केन्द्रीभूत करने के लिए
कितने लोगों को
कितने दिनों तक
आँखों पर पट्टियाँ बाँधनी होंगी
बोलो गान्धारी?
बोलो धर्मराज?

चार

जब नियम-कानून तोड़े बिना
जिन्दा रहना भी
हो जाये असम्भव
तो अवतारी पुरुष नहीं
एक आम आदमी
कितना नियम-कानून तोड़े
कि सुन्दर समाज के सपने भी
संजोये रख सके
और जिन्दा भी रह सके
बोलो धर्मराज?

पाँच

अभी तक सुनी गई थी
समाज की सबसे बुरी स्थिति
अंधेर नगरी की
जिसमें बिकता था
टके सेर भाजी टके सेर खाजा,
अच्छे बुरे
सभी बराबर
अच्छाई और बुराई
सभी एक भाव।
आज की इस नगरी में
अच्छाई की तो
कौड़ियों के बराबर भी कीमत नहीं
और बुराई की हो रही है पूजा
अच्छे हैं सस्ते बुरे मंहगे।
इस नगरी को
तुम क्या नाम दोगे
बोलो धर्मराज?

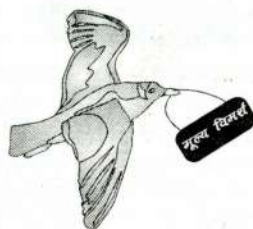
- साभार

• गिरीश पाण्डेय
(आयकर आयुक्त)

(‘धरती जानती है’ कविता-संग्रह के कुछ अंश)

मूल्य विमर्श

भारत के नव निर्माण में एक कदम...



इस अंक में

१. संपादकीय १
२. सफल जीवन, समन्वित व्यक्तित्व-
एवं जीवन मूल्य..... अजितनारायण त्रिपाठी..... २-९
३. संकल्प..... सुरेश कुमार 'अकेला' ९
४. क्या हिन्दू धर्म व्यक्तिवादी है?..... कमलाकर मिश्र १०-१४
५. गाँधीजी से हम क्या प्रेरणा लें..... चन्द्रकला पाडिया १५-१७
६. जीवन-मूल्यों की अद्वैत परक
अवधारणा..... दीपजय श्रीवास्तव..... १८-१९
७. राष्ट्र सेवा का अभिप्राय..... प्रमोद कुमार बर्णवाल २०-२१
८. कितनी प्रार्थना..... गिरीश पाण्डेय..... २१
९. मूल्य-शिक्षा की प्रासंगिकता..... आद्या शक्ति राय..... २२-२४
१०. दहेज और समाज..... राम नरेश 'विशाल' २५-२६
११. संवाद का महत्त्व..... नमिता..... २७
१२. नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता..... छाया राय २८-३६
१३. निन्दक नहीं, उत्प्रेरक बनें..... मीनाक्षी..... ३७
१४. सम्मान दें, स्नेह पायें..... मनीषा शुक्ला..... ३८
१५. मूल्य विमर्श का महत्त्व..... सुनीता द्विवेदी ३९-४०
१६. आईने में झाँकते सवाल..... प्रीति जायसवाल..... ४१-४३
१७. मोती..... अनीता यादव..... ४३
१८. मनोवैज्ञानिक परामर्श की आवश्यकता..... अजय तिवारी..... ४४-४५
१९. ये संसार है एक घोसला..... शैलेन्द्र कुमार मिश्र ४५
२०. कार्यशालाओं का संक्षिप्त विवरण..... ४६-५३
२१. एक गीत लिख तू..... प्रदीप कुमार चौधरी..... ५३
२२. अब्राहम लिंकन का पत्र प्रधानाध्यापक के नाम..... ५४-५५
२३. सच..... छाया कुमारी..... ५५

सूक्ति संकलन : श्री मनोरंजन कुमार (विधि संकाय, का.हि.वि.वि.)

संपादकीय

हिन्दुस्तान दैनिक समाचार पत्र के मंगलवार, १३ दिसम्बर २००५ व मंगलवार, २० दिसम्बर २००५ के अंक के प्रथम पृष्ठ पर दो शीर्षक—“सौदा संसद की गरिमा का” और “बिकाऊ नेताओं की एक खेप और” के अन्तर्गत जो कुछ पढ़ने को मिला, उससे अपार पीड़ा का अनुभव हुआ। पढ़कर मन—मस्तिष्क पर स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु अपने जीवन का सर्वस्व अर्पित कर देने वाले महापुरुषों का चित्र उभर आया। मैं सोच में पड़ गया कि क्या इन महापुरुषों के त्याग से प्राप्त स्वतंत्रता का यही मूल्य है? क्या उनके प्रति यही सच्ची श्रद्धाजलि है?

आज देश के किसी भी पद पर आरूढ़ व्यक्ति बिकने को तैयार है। खरीददार इनकी कीमत का अनुमान सहजता से लगा लेता है। आर्थिक, नैतिक भ्रष्टाचार का सबसे खतरनाक रूप जो उभरकर आया है, वह है इसका ‘सिस्टम’ बन जाना। जिसके कारण कोई भी ईमानदार व्यक्ति सम्मान पूर्वक नहीं जी पा रहा है। हम अत्यन्त परिष्कृत सांस्कृतिक परम्परा के वारिस होने पर भी एक गौरवशाली, मानवोचित समाज का निर्माण करने में सफल नहीं हो पा रहे हैं। इतना ही नहीं प्रबल बौद्धिक क्षमता, ज्ञान—विज्ञान, समृद्ध प्राकृतिक संसाधनों के बावजूद हम पर्याप्त भौतिक प्रगति भी नहीं कर सके हैं। इसके विपरीत आज हमारी गणना विश्व के सबसे अधिक भ्रष्ट देशों में की जा रही है।

आखिर इस स्थिति के पीछे क्या कारण हैं? क्या इनका कोई समाधान भी खोजा जा सकता है? कारण की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमने राजनैतिक स्तर पर शासन—व्यवस्था के रूप में लोकतंत्र की स्थापना तो कर ली, किन्तु उसको आधार प्रदान करने वाले जीवन—मूल्यों या लोकतांत्रिक—मूल्यों को जनमानस में स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया। प्रारम्भिक एक—दो दशकों तक, जब तक स्वतंत्रता—संग्राम के महान् नेताओं के व्यक्तित्व का आदर्शात्मक प्रभामण्डल प्रभावी था; व्यवस्था की मूल्यगत कमियों से किसी को अधिक कष्ट नहीं हुआ। किन्तु, पिछले कुछ दशकों से स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। भ्रष्टाचार, राजनीति का अपराधीकरण, धन बल और बाहुबल का प्रभुत्व, लोकहित की उपेक्षा, आर्थिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में शोषण तथा जन साधारण में अविश्वास का भाव इस बिगड़ती स्थिति का लक्षण है।

ऐसा नहीं है कि इस मूल्यहीनता को रोका नहीं जा सकता। हाँ, इसे रोकने के लिए एक सशक्त मूल्यनिष्ठ लोकतांत्रिक व्यवस्था को स्थापित करने का प्रबल प्रयास होना चाहिए। जब तक जन सामान्य के अन्दर नैतिक—मूल्य चेतना का विकास इस स्तर तक नहीं होगा कि वे देश की उन्नति में ही अपनी उन्नति तथा देश के यश—पराजय में ही अपना यश—पराजय न समझने लगे, तब तक इस मूल्यक्षरण को नहीं रोका जा सकता।

यह सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य है कि पारिवारिक, सामाजिक कार्यक्षेत्र में मानवीय मूल्यों के बिना सुखी नहीं हुआ जा सकता। और न ही इनके अभाव में एक सभ्य, मानवोचित समाज की स्थापना सम्भव है। इसलिये नैतिक मूल्य चेतना को जाग्रत करने का प्रयास परिवार के, विद्यालय—विश्वविद्यालय, संगठनों तथा जीवन के सभी कार्यक्षेत्रों के स्तर पर होना चाहिए। इसका दायित्व उन लोक सेवकों पर ज्यादा है जो अपने शरीर तथा आत्मा को राष्ट्र के रूप में मानते हैं, जो जीते हैं राष्ट्र के लिए और मरते हैं राष्ट्र के लिए। मूल्य—विमर्श का प्रवेशांक ऐसे ही लोक सेवकों के द्वारा जन सामान्य के अन्दर लोकतांत्रिक, नैतिक मूल्य—चेतना को जाग्रत करने हेतु प्रकाशित किया जा रहा है। हमारे और आपके मध्य मूल्य—विमर्श स्थापित होने पर मूल्य चेतना का जागरण स्वतः ही होने लगेगा। यह दीप से दीप जलाने का एक छोटा—सा प्रयास है।

मूल्य—विमर्श की यह यात्रा पूरी तरह से तभी फलीभूत हो सकेगी, जब हमारे साथ आप भी सक्रिय भागीदारी निभायेंगे। आपकी प्रतिक्रियाओं, सुझावों और रचनाओं की हमें प्रतीक्षा रहेगी। आइये आप और हम मिलकर मूल्य—विमर्श के माध्यम से मूल्य चेतना जागृति हेतु एक नई यात्रा प्रारम्भ करें।

सफल जीवन, समन्वित व्यक्तित्व एवं जीवन-मूल्य

प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी

१. सफल जीवन

हम सभी जीवन में सफलता की कामना करते हैं। असफल होने पर हमारा आत्मविश्वास कम हो जाता है, हम कुंठाओं से भर जाते हैं तथा जीवन दुखी हो जाता है। और कोई भी दुखी होना नहीं चाहता। जीवन के हमारे सारे प्रयास, सारे उद्यम सुख और सफलता की कामना से ही प्रेरित होते हैं। यही कामना हमें जीने के लिए, आगे बढ़ने के लिए, ऊँचे लक्ष्यों को पा लेने के लिए प्रोत्साहित करती है। अतः सुख और सफलता की यह सामान्य कामना हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण मूल्य है। पर प्रश्न यह है कि सफलता से हमारा तात्पर्य क्या है? किन उपलब्धियों को हम सफलता कहेंगे? कैसे व्यक्ति को, कैसे जीवन को सफल कहेंगे? इन प्रश्नों पर दो स्तरों पर विचार करना होगा — पहला यह कि सफलता की हमारी क्या प्रचलित मान्यताएँ हैं और दूसरा यह कि वे क्या होनी चाहिए? 'क्या है' से 'क्या होना चाहिए' की ओर प्रस्थान करने में ही मूल्यों का अनुसंधान व अनुशीलन होता है।

सामान्यतः हम सफलता को जीवन की सामाजिक-आर्थिक प्रगति के सोपानों से जोड़कर देखते हैं। विद्यार्थी जीवन में सफलता का अर्थ होता है—किसी अच्छे विद्यालय या विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त कर लेना, परीक्षाओं में अच्छे अंकों से पास हो जाना, खेल—कूद आदि की प्रतियोगिताओं में विजयी होना आदि। आगे चल कर आजीविका, नौकरी प्राप्त करने के प्रयासों में सफलता हमारे लिए महत्वपूर्ण हो जाती है। जीवन के अगले सोपानों पर सफलता का अर्थ हो जाता है: वृत्ति—व्यापार में उन्नति करना, ऊँचे—ऊँचे पदों पर पहुँच जाना, सामाजिक प्रतिष्ठा व प्रभुत्व अर्जित कर लेना। उच्च शिक्षा प्राप्त कुलीन वर्ग की सफलता की

आकांक्षाएँ प्रायः इसी दिशा में होती हैं। पर सामान्य जन जीवन के लिए न्यूनतम भौतिक संसाधन जुटा पाने को ही सफलता का लक्ष्य मान लेते हैं। सबसे अधिक संघर्ष करना पड़ता है — छोटे किसान, कामगार और दलित वर्ग के लोगों को; दो जून की रोटी जुटा पाना ही उनके लिए एक बड़ी उपलब्धि हो जाती है।

जीवन के आर्थिक आधार को सुदृढ़ करने, तथा सुख—सुविधा संपन्न बनने के प्रयास निःसंदेह आवश्यक हैं। यह वांछित भी है और वांछनीय भी। आर्थिक सफलता एक आवश्यक जीवन-मूल्य है। पर शर्त यह है कि आर्थिक, सामाजिक और भौतिक जीवन की सफलता के हमारे सभी प्रयास नीति संगत हों। अनैतिक तरीकों से, छल—कपट, जोड़—तोड़ आदि अन्यायपूर्ण प्रपंचों से प्राप्त सफलता को जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। पारम्परिक भारतीय जीवन दृष्टि की भी यही मान्यता है। वह अर्थ और काम को भी जीवन-मूल्य अर्थात् पुरुषार्थ मानती है। पर यह आवश्यक है कि इनकी प्राप्ति के प्रयास धर्म द्वारा स्थापित मर्यादाओं के अधीन हों। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ नैतिकता से है; आस्था—विश्वास, पूजा—पाठ आदि की विधियों से नहीं। नैतिकता के नियम—सिद्धांत इसीलिए बनाये जाते हैं कि हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित और मर्यादित हो, एक की सुखाकांक्षाएँ दूसरे को तथा सामुदायिक हित को क्षति न पहुँचायें। अन्यथा मानव का सामाजिक जीवन अराजकतापूर्ण, और असभ्य हो जायेगा। एक सभ्य और मानवोचित समाज बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी व्यक्तिगत और व्यवस्थागत, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य सभी सामुदायिक गतिविधियाँ नैतिक मूल्यों से नियमित और संचालित हों।

नैतिक मूल्यों का अनुपालन करते हुए

आर्थिक—भौतिक संपन्नता प्राप्त कर लेने के प्रयासों को जीवन—मूल्य के रूप में स्वीकार कर लेने के बाद यह प्रश्न उठता है क्या इन्हीं उपलब्धियों से सफल जीवन परिभाषित हो जाता है? क्या पैसा, पद, प्रतिष्ठा की चूहा—दौड़ में औरों से आगे बढ़ जाना ही मानव जीवन की सफलता है, उसका लक्ष्य है? क्या ऐसी सफलता से ही जीवन सुखी और सार्थक हो जाता है? स्पष्टतः इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक होगा। यह सामान्य अनुभव की बात है कि कैरियर की सफलता में, भौतिक सुविधाएं जुटाने में तथा ऐंद्रिय सुखाकांक्षाओं की पूर्ति में ही अपने को झोंक देने वाले लोगों का जीवन प्रायः सुखी नहीं हो पाता। ये आकांक्षाएं जितनी ही पूरी होती हैं, उनकी भूख उतनी ही बढ़ती जाती है। समग्र जीवन—दृष्टि एवं उच्चतर मूल्यों के अभाव में जीवन भौतिक उपलब्धियों और सुखाकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए एक अंतहीन और निरर्थक दौड़ बन कर रह जाता है। ऐसे जीवन में संतोष, उल्लास, प्रसन्नता, आनन्द, पूर्णता तथा तृप्ति के भाव कम होते हैं। इस प्रकार के उच्चतर स्तर के सुखानुभूति के स्रोत अन्यत्र हैं। इनमें एक प्रमुख स्रोत है—मानवीय संबंधों की सरसता, मधुरता और प्रगाढ़ता। मानवीय संबंधों से तात्पर्य उन सभी रिश्तों से है जो हम अपने परिवार के स्वजनों से, मित्रों से, कार्यक्षेत्र के सहयोगियों से, पास—पड़ोस के लोगों से तथा मानव समुदाय के सभी सदस्यों से बनाते हैं। यदि हमारे इन संबंधों में खटास, तनाव, उपेक्षा, कटुता, वैमनस्यता आदि के दुर्भाव आ जाते हैं तो आर्थिक—सामाजिक रूप से समृद्ध और सफल होते हुए भी हमारा जीवन सुखी नहीं हो पाता। अतः सुखी एवं सफल जीवन का एक प्रमुख आधार है—मानवीय संबंधों में सफलता। ऐसी सफलता तब मिलती है। जब हमारे व्यक्तित्व में मानवीय संवेदनाओं का विकास होता है। हम दूसरों का दुख—दर्द बांटने में तत्पर रहते हैं। लोगों के व्यक्तित्व का, उनकी आकांक्षाओं का आदर करते हैं और उनके विकास एवं सफलता में सहायक बनते हैं। मात्र

अपनी स्वार्थ—सिद्धि में, अपनी ही उन्नति में लगे हुए लोग ऐसा नहीं कर पाते। दूसरों का आदर करने और उनका हित चिंतन करने की प्रवृत्ति, प्रेम और मैत्री भावना के उच्चतर मानवीय मूल्यों को हृदयंगम करने से विकसित होती है।

अन्य जनों से मधुर संबंध बनाने के साथ यह भी आवश्यक है कि स्वयं अपने आप से भी हमारे संबंध मैत्रीपूर्ण हों। यदि हम अपने से लड़ते—झगड़ते रहेंगे, अपनी कमियों को उकेरते रहेंगे तो हम हीन भावना से ग्रसित हो जाएंगे और हमारा आत्मविश्वास कमजोर हो जायेगा। सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी क्षमताओं को, अपने व्यक्तित्व की संभावनाओं को जानें—पहचानें और उन्हें अधिकाधिक विकसित करने का यत्न करें। अपने नकारात्मक मनोवेगों को, राग—द्वेष की भावनाओं को, अपनी तृष्णाओं को नियमित और नियंत्रित करें। साथ ही, कोई ऐसा काम न करें, जो हमें अपनी ही नजरों में छोटा कर दे। आत्मबल और आत्मसम्मान के भाव एक विकसित व्यक्तित्व के गुण हैं जो सभी सफल व्यक्तियों के व्यक्तित्व में स्पष्ट रूप से झलकते हैं। साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम आत्मसम्मान और अहंकारिता के अंतर को समझें।

अहंकारिता व्यक्तित्व का सबसे बड़ा दुर्गुण है। यही दूसरों से सुमधुर संबंध बनाने में, सबसे मिलजुल कर रहने में, सबसे बड़ा बाधक है। अहंकारी व्यक्ति आत्म—केन्द्रित होता है। वह अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता। वह सभी परिस्थितियों में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है तथा आत्म प्रशंसा और आत्म गौरव में ही विस्मृत रह जाता है। अहंकारिता और स्वार्थ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। आत्म—केन्द्रित व्यक्ति केवल अपने ही हित पूर्ति में निमग्न रहता है। दूसरों की उसे कोई चिंता नहीं होती। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए वह दूसरों का अहित करने से भी नहीं हिचकिचाता। आज के जीवन में व्याप्त कटुता, संघर्ष, अशान्ति आदि

के मूल में अहंकार और स्वार्थ ही हैं। इनसे निवृत्त हुए बिना ना तो हम अच्छे व्यक्ति बन सकते हैं और ना ही सुखी जीवन जी सकते हैं। इसके विपरीत आत्मसम्मान और दूसरों के सम्मान का भाव एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो व्यक्ति अपना सम्मान नहीं करता वह दूसरों का भी सम्मान नहीं कर पाता है।

सफल और सुखी जीवन का एक तीसरा पक्ष भी है। हम पूर्णरूप से सफल तभी होते हैं जब वह बन पाते हैं, जो बन सकते हैं। अर्थात्, जब हम अपनी आंतरिक प्रतिभा और अपनी क्षमता को विकसित कर पाते हैं और अपने सपनों को साकार कर पाते हैं। ऐसा न हो पाने पर, बाहर से हम कितने ही सफल दिखें, एक आंतरिक व्यथा, एक रिक्तता बनी रहती है। हम स्वयं अपने जीवन से, अपनी उपलब्धियों से सुखी और संतुष्ट नहीं हो पाते। उदाहरण के लिए यदि हमारी मूल प्रवृत्ति और प्रतिभा एक लेखक बनने की है तो किसी अन्य वृत्ति—व्यवसाय में हम भले ही सफल हो जायें, प्रिय जनों से सुमधुर संबंध भी बना लें, फिर भी जीवन में कुछ कमी, कुछ सूनापन का अनुभव करते रहेंगे। यह लगता रहेगा कि जीवन के किसी मोड़ पर हम भटक गये और गलत दिशा चुन ली। कई बार यह भटकाव परिस्थितियों के कारण हो जाता है। पर कई बार इसलिए भी कि हम स्वयं अपने को नहीं जान सके। दूसरों को जान सकने से कहीं कठिन होता है अपने को पहचान लेना। इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करके ही हम अपने स्वविकास की यात्रा पूरी कर पाएंगे। अतः हमें प्रयास करके अपने को, अपनी चाहत को, अपनी प्रतिभा को पहचानना चाहिये और उसी के अनुरूप अपने परिवेश को, अपनी आजीविका को चुनना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा सामंजस्य बैठा पाते हैं वे ही सफलता के उत्कृष्ट शिखरों को छू पाते हैं। साथ ही वे अपनी उपलब्धियों से दूसरों को, समाज को भी बहुत कुछ दे पाते हैं।

२. समन्वित व्यक्तित्व

हमारे व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं; एक है बाहरी और

दूसरा आंतरिक। जिस रूप में हम अन्य लोगों को दिखायी देते हैं, या जिस रूप में हम अपने को दिखाना चाहते हैं; वह हमारे व्यक्तित्व का बाहरी पक्ष है। हमारी वेश-भूषा, कद-काठी, बोल-चाल, रहन-सहन, हाव-भाव, शिष्टाचार आदि के सलीके मिल कर हमारा बाहरी व्यक्तित्व बनाते हैं। सामान्यतः दूसरे लोग, खासकर वे जो हमसे पहली बार मिलते हैं, हमारे बारे में अपनी राय बाहर से दिखायी देने वाली इन्हीं बातों के आधार पर बनाते हैं। अंग्रेजी का प्रचलित मुहावरा है, फर्स्ट इम्प्रेशन इज द लास्ट इम्प्रेशन (*First impression is the last impression*) यानी, पहली मुलाकात में हमारी जो छवि दूसरों के मन में बन जाती है, वह अमिट हो जाती है। हालांकि मनोवैज्ञानिक इसे बहुत सही नहीं मानते, पर फिर भी इसमें कुछ सच्चाई तो है ही। अतः हम इस बाहरी व्यक्तित्व के बारे में बहुत सतर्क रहते हैं। प्रयास करते हैं कि दूसरों पर हमारा प्रभाव अच्छा पड़े, हम उन्हें अच्छे लगें, आकर्षक लगें, और वे हमें चतुर, प्रतिभावान व स्मार्ट समझें। इस बाहरी व्यक्तित्व को सजाना—सवारना, निखारना, आज के युग में अवश्य ही महत्वपूर्ण है। पर प्रायः ऐसे प्रयासों में कुछ अधिक दिखावा एवं बनावटीपन आ जाता है और तब हमारा व्यवहार कृत्रिम और असहज हो जाता है। कुछ अधिक चलते—पुर्जे, होशियार लोग अलग-अलग परिस्थितियों के लिए अलग-अलग मुखौटे ओढ़ लेते हैं: घर परिवार एवं मित्रों के लिए एक, सामाजिक जीवन के लिए दूसरा और व्यवसायिक तथा कार्य-क्षेत्र के लिए तीसरा। इस कला में सर्वाधिक पारंगत होते हैं—राजनीति के खिलाड़ी नेतागण। पर यह दिखावा एवं छलावा, अधिक समय तक टिक नहीं पाता। शीघ्र ही ऐसे लोगों की पोल खुल जाती है।

विशेष गुण—कौशल और विशिष्टताएं जो हमारे सामान्य व्यवहार में दिखायी देती हैं, वे हमारे बाहरी व्यक्तित्व का अंग बन जाती हैं। इनसे हमारी एक अलग पहचान बनती है। पर इन सबों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण

है, हमारा आंतरिक व्यक्तित्व। हम अंदर से क्या हैं? कैसे व्यक्ति हैं? हमारी मूल्य-मर्यादायें क्या हैं? हमारी मानवीय संवेदनायें कितनी गहरी हैं? हमारी जीवन-दृष्टि कैसी है? हम दूसरों को किस भाव से देखते हैं और किस भाव से उनसे जुड़ते हैं? हमारी कल्पना शक्ति कितनी विकसित है? हम कितने विचारशील, मननशील और विवेकशील हैं? इन प्रश्नों के उत्तर हमारे आंतरिक व्यक्तित्व को, और उसकी गहराईयों को परिभाषित करते हैं। जब हमारा आंतरिक व्यक्तित्व विकसित और परिष्कृत हो जाता है तब हम एक सच्चे और भले इंसान बन जाते हैं, एक उत्कृष्ट मानव बन जाते हैं। तब हमें अपने अंदर की कमियों और विकृतियों को ढंकने के लिए मुखौटों की जरूरत नहीं पड़ती। हर जगह और हरेक परिस्थिति में हम वही होते हैं जो हम हैं। हमारे व्यवहार में सरलता और सहजता आ जाती है। हमारा सम्पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व सुगठित हो जाता है, समन्वित हो जाता है। और हमारे उत्कृष्ट आंतरिक व्यक्तित्व की सुगंध हमारे बाहरी व्यक्तित्व में भी आ जाती है। इसके विपरीत यदि हमारे आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व में विरोधाभास होगा, तो हमारा व्यक्तित्व खंडित हो जायेगा, हम नाना प्रकार के तनावों और कुंठाओं से ग्रसित हो जायेंगे और अंततः हमारा जीवन दुखी और असफल हो जायेगा।

समन्वित व्यक्तित्व को एक अन्य दृष्टि से भी देखा जा सकता है। मानवीय क्षमता के कई आयाम होते हैं; जैसे—बौद्धिक क्षमता, भावनात्मक क्षमता, नैतिक क्षमता, सर्जनात्मक क्षमता, संकल्प शक्ति आदि। इन सभी आयामों के विकसित होने पर पूर्ण और समन्वित व्यक्तित्व का विकास होता है। बौद्धिक क्षमता के द्वारा हम ज्ञानार्जन करते हैं, ज्ञान की विभिन्न धाराओं—उपधाराओं का अनुसंधान करते हैं, समाज, जीवन और विश्व को जानने—समझने का यत्न करते हैं, विचारों को तौलते—परखते हैं। भावनात्मक क्षमता को विकसित कर हम अपने और दूसरों के मनोभावों, आवेगों और आवेशों की सही समझ बना

सकते हैं। इन मनोभावों को समझ कर, नियंत्रित कर और सकारात्मक दिशा दे कर हम अपने जीवन को अधिक व्यवस्थित बना सकते हैं, और दूसरों के साथ सुमधुर संबंध बना कर जीवन की गुणवत्ता को बेहतर बना सकते हैं। नैतिक क्षमता हमें उचित और अनुचित में भेद करना सिखाती है। इसके विकास से हमारे चारित्रिक सद्गुणों का विकास होता है, हम सद्-आचरण की ओर प्रवृत्त होते हैं और जीवन की समस्याओं का नीति-सम्मत तरीके से हल निकालने का प्रयास करते हैं। सृजनात्मक क्षमता द्वारा हम नये विचारों को जन्म देते हैं, नयी साहित्यिक कृतियों तथा कलाकृतियों का सृजन करते हैं, नये वैज्ञानिक शोध व आविष्कार करते हैं, नयी सामाजिक व्यवस्थाएं बनाते हैं, जीवन को नये मोड़ देते हैं। इस सृजन और नूतनता के अभाव में जीवन नीरस, जड़ और यांत्रिक हो जाता है। और संकल्प-शक्ति हमें अपने सपनों को साकार करने की प्रेरणा देती है, ऊर्जा देती है। इस शक्ति के अभाव में हम निष्क्रिय हो जाते हैं, जीवन और समाज की धारा अवरुद्ध हो जाती है और मानव सभ्यता का विकास थम जाता है। इन सभी क्षमताओं का समन्वित विकास कर पाने में सक्षम व्यक्ति सफलता और मानवीय उत्कृष्टता के उच्चतम शिखरों को छू पाता है। वह न केवल अपने जीवन की चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करता है, वरन् सामुदायिक जीवन के हर क्षेत्र में कुशल नेतृत्व प्रदान करता है। जीवन और समाज से जितना पाता है, उससे कहीं अधिक दे जाता है। और इस देने में ही अपने जीवन की सफलता और सार्थकता का अनुभव करता है। ऐसे महापुरुष हमारे प्रेरणा स्रोत बनते हैं, और मानवीय प्रगति पथ के दीप स्तंभ।

३. जीवन मूल्य

जीवन मूल्य से हमारा तत्पर्य उन मूल्य-मर्यादाओं से है जो मानव व्यक्तित्व को और उसके जीवन को परिष्कृत करती हैं। ये मूल्य ही हमें हमारा मानवत्व, मानवीय गरिमा और इंसानियत देते हैं।

अतः इन्हें ही हम मानवीय मूल्य भी कहते हैं। हमारे समन्वित व्यक्तित्व का विकास करने वाले इन मूल्यों में प्रमुख है—चारित्रिक सद्गुण, जो हमें सच्चरित्र बनाते हैं। इनके अनुपालन से हमारी जीवन—धारा मर्यादित होती है। हम दुर्गुणों और दुष्प्रभावों से बचते हैं, वह राह अपनाते हैं जो हमारे जीवन को सफल, सार्थक और आनन्दमय बनाती हो। साथ ही हमारा जीवन दूसरों के लिए, समाज के लिए भी कल्याणकारी होता है। जीवन की उच्चतर श्रेणी में आने वाले मूल्य हैं—सत्य, अहिंसा, सबके प्रति प्रेम और करुणा का भाव। जिनके जीवन में ये मूल्य प्रवाहमय होते हैं, हम उन्हें संत, महापुरुष, महात्मा आदि नामों से विभूषित करते हैं। इनका अपना कोई निज हित या स्वार्थ नहीं होता। वे 'परहित निरत निरंतर' हो जाते हैं और केवल दूसरों के कल्याण के लिए, 'लोक संग्रह' के निमित्त ही काम करते हैं। वे अपने व्यक्तित्व, कृतित्व और विचार से संपूर्ण मानवता को आलोकित करते हैं।

हमारी मूल्य—चेतना का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि हम दूसरे लोगों को तथा उनके साथ अपने संबंधों को किस दृष्टि से देखते हैं। इन दूसरों में घर—परिवार—कुटुम्ब के लोग; कार्यक्षेत्र, वृत्ति—व्यापार से जुड़े लोग; सामाजिक, सार्वजनिक जीवन में संपर्क में आने वाले सभी लोग आते हैं। अधिक व्यापक स्तर पर सम्पूर्ण मानव समुदाय इसी श्रेणी में आता है। दूसरों को देखने की एक प्रचलित दृष्टि यह है कि ये सभी मेरे अपने हितों की पूर्ति के लिए साधन मात्र हैं। इनसे जितना ले सकें लें, और जब ये हमारे उपयोग के न रहें तो इन्हें भुला दें, नकार दें। यह स्वार्थपरक सोच—व्यक्तिगत संबंधों, सामाजिक व्यवस्थाओं और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में—नाना प्रकार की शोषण प्रवृत्तियों और उससे उत्पन्न तनावों को जन्म देती है। इसके विपरीत वह दृष्टि है जिसमें हम सभी को अपनी ही तरह इंसान समझते हैं; उनकी भावनाओं का, उनके हितों का भी उतना ही ध्यान रखते हैं, जितना अपने हितों का। दूसरों को अपना समझते हैं, उनसे अपना

संबंध बनाते हैं और तदनुरूप व्यवहार करते हैं। दूसरों के साथ हमारे संबंधों में तब संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग, पारस्परिकता और कल्याण कामना आदि उच्चतर जीवन मूल्यों का प्रवाह होता है। इस मूल्य धारा के सिंचन के बिना मानव जीवन और मानव समाज का गुणात्मक विकास संभव नहीं होगा। साथ ही, इस मूल्य सिंचन की आवश्यकता केवल हमारे मानवीय संबंधों में ही नहीं है, बल्कि आज उतना ही आवश्यक यह हो गया है कि हम मानवेतर प्राणियों, संपूर्ण प्रकृति, पेड़ों, पहाड़ों, नदियों, हवा, जल, जमीन से भी प्रेमपूर्ण संबंध बनाकर जीना सीखें।

जीवन मूल्यों की श्रेणी में व्यक्ति और समाज के अंतर्सम्बंधों तथा सामाजिक व्यवस्था में अंतर्निहित मूल्य—मर्यादाओं का एक विशिष्ट स्थान है। इनकी समझ बनाने के लिए हमें व्यक्ति—केन्द्रित मूल्य चिंतन से हट कर समाज—केन्द्रित मूल्य चिंतन की दृष्टि अपनानी होगी। साथ ही, सामाजिक चेतना को अपनी मूल्य चेतना का आवश्यक अंग बनाना होगा। इस सोच की बुनियादी बात यह है कि जीवन की सभी उपलब्धियाँ हमें समाज में, और समाज से प्राप्त होती हैं। हमारी व्यक्तिगत उत्कृष्टता और समाज की उत्कृष्टता घनिष्ठ रूप से एक—दूसरे से जुड़े हैं। अच्छे व्यक्ति अच्छा समाज बनाते हैं और अच्छा समाज अच्छे व्यक्तियों का निर्माण करता है। अतः सामाजिक जीवन को, सामाजिक व्यवस्था को, सामाजिक संस्थाओं को, सभ्य और मानवोचित बनाने वाले मूल्य भी जीवन मूल्य हैं। आधुनिक मानवतावादी सोच से उपजे ये मूल्य हैं—लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था, सामाजिक न्याय, समता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सभी को सम्मान पूर्वक जीवन जीने और आगे बढ़ने का अधिकार आदि। इन मूल्यों को अपने व्यक्तित्व तथा व्यवहार में साकार कर लेना, उन्हें सामुदायिक मूल्य—चेतना का महत्वपूर्ण अंग बना देना आज हम सभी का दायित्व है, धर्म है।

इस व्यापक मूल्य दृष्टि का अभाव आज हमें

जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी स्तरों पर दिखायी देता है। यह अभाव ही हमारी सारी समस्याओं का कारण भी है। इसके कारण हमारे संपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पा रहा है और हम जीवन के पूर्ण आनन्द से वंचित रह जा रहे हैं। व्यक्तिगत जीवन में असंतोष, तनाव, कुंठाएं और उनसे उत्पन्न नाना प्रकार की विकृतियाँ और दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। आर्थिक—भौतिक रूप से सफल और सुविधा सम्पन्न होने पर भी जीवन में प्रायः सुख—संतुष्टि और आनन्द नहीं है। जीवन सरस और सार्थक नहीं लगता। सामाजिक—सामुदायिक जीवन तो और भी अधिक विद्रूप हो रहा है। भ्रष्टाचार, हिंसा, वर्ग—संघर्ष, अपराध, शोषण, कटुता, अविश्वास की भावना आदि तेजी से बढ़ रहे हैं। अधिकांशतः इन समस्याओं की चर्चा और उनका विश्लेषण हम सामाजिक—राजनैतिक विचारधाराओं पर करते हैं; और उनसे हल का उपाय प्रशासनिक, न्यायिक, राजनैतिक, आर्थिक व्यवस्थाओं के माध्यम से करने का प्रयास करते हैं। ये प्रयास अवश्य ही होने चाहिये, पर उनसे भी अधिक आवश्यक यह है कि इन प्रश्नों पर व्यापक जीवन मूल्यों और मानवीय मूल्यों की दृष्टि से विचार किया जाय। तब हमारी प्रचलित आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं के आधारभूत सिद्धांतों की मूल्यगत कमियाँ दिखायी देंगी। नैतिक और मानवीय मूल्यों का सुदृढ़, तर्क संगत और व्यवस्थित आधार देकर ही हम एक अच्छे, सभ्य, मानवोचित समाज की संरचना के नये ताने—बाने बुन पायेंगे।

जीवन मूल्यों का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम है — सौन्दर्य बोध। सौन्दर्य हमारे जीवन को सरस बनाता है, इसमें रंग भरता है और उसका श्रृंगार कर हमारी कल्पनाओं को पंख लगा देता है; जिसके सहारे हम सुखानुभूतियों के आकाश में ऊँची उड़ाने भर पाते हैं। सौन्दर्य हमारे चारों ओर—प्रकृति में, कलात्मक कृतियों में, जीवन में—बिखरा पड़ा है। पर उसे देखने की दृष्टि चाहिये और उसका रसास्वादन करने के लिए सुरुचिपूर्ण संस्कार।

इनके अभाव में हम हवा के हिलोरो में झूमते रंग—बिरंगे फूलों की मुस्कुराहट को नहीं देख पाते, बादलों के साथ आँख मिचौली खेलते चांद को नहीं निहार पाते, संगीत की सरस तानों से आत्मविभोर नहीं हो पाते, और सोते बच्चों की मुस्कुराहट में छलकते आनन्द का रस नहीं ले पाते। प्राचीन दार्शनिकों ने भी सुन्दर को सत्य और शिव के साथ जीवन के आधारभूत मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय मनीषियों ने तो सौन्दर्य बोध को मानव होने का पर्याय ही घोषित कर दिया है। प्रायः दो हजार वर्ष पहले भर्तृहरि ने कहा था—साहित्य संगीत कला विहिनः, *साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।*

सुन्दर चीजें हमसे कुछ लेती नहीं, सिर्फ सुख और आनन्द देती हैं। शायद हमसे उनकी एक ही अपेक्षा है—सौन्दर्य के रसिक बनें, पारखी बनें और जीवन को सुन्दर बनायें।

मूल्यनिष्ठ जीवन और मूल्यनिष्ठ व्यक्तित्व की असली कसौटी है—हमारा आचरण, हमारा व्यवहार और हमारे कृत्य। व्यक्तित्व के विकास के लिए विचार, भावना, संस्कार, सुरुचि, जीवन—दृष्टि आदि का उत्कृष्ट होना आवश्यक है। पर इनकी उत्कृष्टता यदि हमारे सामान्य जीवन—व्यवहार में प्रवाहित नहीं होती तो जीवन मूल्य के रूप में इनका कोई महत्व नहीं है। और आचरण की श्रेष्ठता का मापदंड है नैतिकता। हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में, व्यक्तिगत, सामुदायिक, वृत्ति—व्यावसायिक जीवन के सभी कार्य—कलाप नैतिक मूल्य—मर्यादाओं के अनुरूप होने चाहिये। नैतिकता और नीतिशास्त्र का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। एक स्तर पर यह हमारे चारित्रिक सद्गुणों का निरूपण करता है। दुर्गुणों से मुक्ति और सद्गुणों की प्राप्ति एक भले व्यक्ति, एक सच्चे इंसान का प्रमुख लक्ष्य होता है। आज के युग में जिन सद्गुणों पर अधिक बल देने की आवश्यकता है; वे हैं—ईमानदारी, वचन बद्धता, विश्वसनीयता, न्यायप्रियता, सज्जनता, अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने का साहस, निस्वार्थ सेवाभाव, निरहंकारिता

और नम्रता। प्रबुद्ध, उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों में, जो देश और समाज को चलाने वाले तंत्र में शक्ति-सम्पन्न स्थलों पर बैठे हैं—इन नैतिक मूल्यों का अभाव सामाजिक जीवन में नाना प्रकार के शोषण, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि को जन्म दे रहा है। इन्हें रोकने के लिए कायदे—कानून आदि प्रशासनिक प्रयासों के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि अधिकारी वर्ग में सम्मिलित होने वाले लोगों के चरित्र-निर्माण पर भी उतना ही ध्यान दिया जाये, जितना आज उनकी बौद्धिक क्षमता एवं कार्य-कुशलता को विकसित करने पर दिया जा रहा है।

नीतिशास्त्र का दूसरा पक्ष उन व्यापक नीति-सिद्धांतों का अन्वेषण करता है, जिनके आधार पर व्यक्तिगत जीवन में, कार्य क्षेत्र में और सामुदायिक जीवन में उठने वाली समस्याओं का हल ढूंढा जाता है। ये सिद्धांत समय, जीवन और समाज सापेक्ष होते हैं। बदलती सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप इन्हें निरन्तर विकसित और परिभाषित करते रहना होता है। नयी सामाजिक गतिविधियाँ और नयी व्यवस्थाएँ नये नैतिक प्रश्नों को एवं समस्याओं को जन्म देती हैं। इनका उत्तर पाने के प्रयासों में नीतिशास्त्र की नयी धाराएँ—उपधाराएँ निकल पड़ती हैं। जैसे, आधुनिक युग में चिकित्सा विज्ञान से जुड़े कुछ नैतिक प्रश्न हैं—चिकित्सक और रोगी के बीच के संबंध किन नैतिक मर्यादाओं से नियमित हों? जब रोगी के बचने की कोई आशा न हो, और रोगी स्वयं अपने यातनापूर्ण जीवन को और न बढ़ाना चाहे तो क्या चिकित्सक उसे जीवित रखने के उपकरण और दवाएँ बंद कर दे? इसी प्रकार के अनेक नैतिक प्रश्न प्रौद्योगिकी में, विधि-व्यवस्था में, व्यापारिक गतिविधियों में उठते रहते हैं। इनके लिए नये नैतिक सिद्धांतों का सृजन भी तेजी से हो रहा है। विशेषज्ञों के अतिरिक्त सामान्य जन के सामने भी आधुनिकता नये नैतिक प्रश्न उपस्थित कर रही है। जैसे, नयी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व्यवस्थाओं के उपभोक्ता होने के कारण आधुनिक समाज के नागरिकों का

इन व्यवस्थाओं के प्रति और उनसे उठती समस्याओं के प्रति, पर्यावरण और प्रकृति के प्रति क्या दायित्व हैं? दायित्व—बोध की यह नयी नैतिकता नीतिशास्त्र की एक विशिष्ट धारा के रूप में विकसित हो रही है। जीवन मूल्य के रूप में इन नयी मूल्य-मर्यादाओं का अनुपालन हम सभी का धर्म है।

जीवन मूल्यों की इस खोज की अंतिम पर अत्यन्त महत्वपूर्ण बिन्दु है—आध्यात्मिकता। आध्यात्मिकता को प्रायः आस्था—विश्वास की कुछ मूल मान्यताओं के साथ जोड़कर देखा जाता है; जैसे—मानवोपरि दैवी सत्ता में विश्वास, ईश—भक्ति, पूजा—पाठ, धार्मिक अनुष्ठान आदि। पर आज बहुत से प्रबुद्ध जन जीवन और प्रकृति को संचालित करने वाले किसी दैवी विधान में, अथवा हमारी प्रार्थना—वन्दना स्वीकार कर हमें कष्टों से मुक्ति दिलाने वाले भगवान् में विश्वास नहीं करते। इस दृष्टि के अनुसार जीवन मूल्यों की खोज और उनका विकास, मानव बुद्धि विवेक के अनुसार तथा मानव जीवन और मानव समाज के वर्तमान यथार्थ के आधार पर होना चाहिए न कि आस्था—विश्वास पर आधारित किसी परम सत्ता अथवा परम 'सत्य' की तात्त्विक मान्यताओं के आधार पर। मूल्य चिन्तन की इस नयी सोच में और पारंपरिक मूल्य चिंतन की धारा में यह एक मौलिक अन्तर है। इस अन्तर को स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठता है कि क्या आध्यात्मिक परंपरा द्वारा स्थापित जीवन मूल्य—आत्मशुद्धि, व्यावहारिक, भावनात्मक एवं आन्तरिक पवित्रता, सभी प्राणियों, संपूर्ण प्रकृति और पूरे ब्रह्माण्ड के साथ एकात्म होने का भाव, सभी से प्रेम, धैर्य, करुणा का भाव, निरहंकारिता आदि—आधुनिक दृष्टि में जीवन मूल्य हैं? इसका स्पष्टतः उत्तर होगा—नहीं; क्योंकि ये तो सर्वोच्च जीवन—मूल्य तथा आधारभूत मानव मूल्य हैं। इन्हें विभिन्न सभ्यताओं ने तथा विभिन्न धार्मिक—आध्यात्मिक परंपराओं ने मान्यता दी है; वे चाहे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, ईश्वर में विश्वास करते हों या निरीश्वरवादी हों। आधुनिक मानवतावादी चिंतक

भी इन्हीं मूल्यों को अपनाते हैं। जड़, चेतन सभी के आपसी जुड़ाव को, उनकी पारस्परिकता को आधुनिक पारिस्थितिकी विज्ञान (*Ecology*) भी बड़े सशक्त रूप से स्थापित करता है। अतः इन मानव मूल्यों के महत्व को स्वीकार करने के लिए किसी मानवोपारे सत्ता में, अथवा आध्यात्मिक 'सत्य' में विश्वास करने की अनिवार्यता नहीं है। ऐसा विश्वास करना या न करना प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वातंत्र्य है। इस मानवीय स्वातंत्र्य का सम्मान होना चाहिए। अतः व्यक्तिगत आस्था—विश्वास पर तार्किक विवेचन करना उचित नहीं लगता। पर इसके साथ यह भी कहना आवश्यक लगता है कि यदि किसी व्यक्ति, वर्ग अथवा संप्रदाय के धार्मिक—आध्यात्मिक आस्था—विश्वास का सामाजिक प्रकटीकरण इस प्रकार होता हो कि मानवीय मूल्य—मर्यादाओं का हनन होता हो; जिससे सामाजिक समरसता और शान्ति व्यवस्था खतरे में पड़ती हो, तो उसका प्रभावी विरोध होना चाहिए। अन्यथा धार्मिक—सामाजिक रूढ़िवादिता, कट्टरता तथा अन्धविश्वासों से, और धर्म के नाम पर होने वाले शोषण और अत्याचार से मानव मुक्ति के प्रयास अवरूद्ध हो जायेंगे। प्रायः हम सर्व धर्म समभाव के नाम पर मानव मूल्य विरोधी तथा अमानवीय कुप्रथाओं का विरोध करने में भी संकोच कर जाते हैं।

उपरोक्त विवेचना में हमने जीवन—मूल्यों के बहुआयामी स्वरूप को रेखांकित करने का प्रयास किया। जीवन के अनेक पक्ष हैं—आर्थिक, भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यबोधात्मक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि। इन पक्षों को समृद्ध और उत्कृष्ट बनाने वाले मूल्य भी अलग—अलग हैं। इन सभी के सामंजस्यपूर्ण समन्वित विकास से ही मानव जीवन मूल्यवान होता है और हम मानवीय उत्कृष्टता की ओर बढ़ते हैं। किसी एक पक्ष को, अथवा केवल कुछ पक्षों को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानकर उन्हीं का विकास करते रहने पर जीवन अपूर्ण हो जाता है और उसकी गुणवत्ता घट जाती है। जैसे, आधुनिक

मानवीय विकास की अवधारणा में प्रायः नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर ध्यान नहीं दिया जाता। सारा प्रयास आर्थिक, भौतिक और सामाजिक प्रगति पर ही केन्द्रित किया जाता है। यह एकांगीपन आधुनिक जीवन की सभी कठिनाईयों और समस्याओं का सर्वप्रमुख कारण है। इसी प्रकार पारंपरिक आध्यात्मिक जीवन दृष्टि प्रायः जीवन को और उसकी समस्याओं को केवल आध्यात्मिक मूल्यों की परिधि में से ही परिभाषित करने का प्रयास करती है। अतः वह आग को विकराल होती भौतिक समस्याओं का बदलती सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न संघर्षों, तनावों आदि का कोई कारगर हल नहीं दे पाती, अतः यह आवश्यक है कि जीवन को और जीवन मूल्यों को उनकी समग्रता में देखा जाये और उनके समन्वित विकास पर बल दिया जाये। ऐसी समग्र और समन्वित जीवन दृष्टि और मूल्य दृष्टि ही आज हमें संपूर्ण मानवीय उत्कृष्टता की ओर बढ़ने का मार्ग दिखा सकती है। ♦

‘संकल्प’

सुरेश कुमार ‘अकेला’

टुकड़ों को जोड़कर हम इमारत बनायेंगे
वो बम बनायेंगे तो हम मुहब्बत बनायेंगे
गर दिल फिर भी टूटा ही रहा
टूटे दिल को जोड़ने की हम आदत बनायेंगे

करेंगे सेवा हम समाज की
कसम है हमें अपनी आवाज़ की
सभी के दिल में हम उल्फत जगायेंगे
टूटे दिल को जोड़ने की हम आदत बनायेंगे

जो भूल चुके हैं अपनी राहों को,
उनको राह बताना है
लो ‘संकल्प’ आज साथियों
किसी को नहीं सताना है
भारत माँ की बगिया में एक नूतन दीप जलायेंगे
टूटे दिल को जोड़ने की हम आदत बनायेंगे

स्नातकोत्तर (आधुनिक इतिहास) का०हि०वि०वि०

क्या हिन्दू धर्म व्यक्तिवादी है?

प्रो० कमलाकर मिश्र

किसी धर्म विशेष के स्वरूप का निर्णय करने की क्या कसौटी है? उदाहरण के लिए, यदि हम यह जानना चाहें कि हिन्दू धर्म क्या है अथवा हिन्दू धर्म की क्या विशेषताएँ हैं, तो इसे हम किस आधार पर जानेगे? क्या हिन्दू कही जाने वाली जनता के व्यवहार को देखकर कहेंगे कि हिन्दू धर्म यह है? नहीं, हिन्दू नाम से अभिहित होने वाले लोगों के व्यवहार के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि हिन्दू धर्म यही है, क्योंकि धर्म वस्तुतः आदर्शमूलक या नियामक होता है। दूसरे शब्दों में, धर्म का सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि हम कैसे रहते हैं, वरन् उसका सम्बन्ध इससे है कि हमें कैसे रहना चाहिए। फलतः यह स्पष्ट है कि हिन्दू जनता के व्यवहार को ही हिन्दू धर्म का स्वरूप जानने की कसौटी नहीं माना जा सकता। यह बिल्कुल सम्भव है कि हिन्दू जनता का व्यवहार हिन्दू धर्म के आदर्शों अथवा नियमों के अनुरूप न हो।

यदि लोगों का व्यवहार धर्म का मापदण्ड (या कसौटी) नहीं है तो उसकी कसौटी क्या है? उत्तर है कि धर्म विशेष के स्वीकृत मूल धर्मग्रन्थ में जो आदर्श अथवा नियम दिये गये हैं उन्हीं के आधार पर उक्त धर्म के स्वरूप का निर्णय हो सकता है। ईसाई धर्म का स्वीकृत मूल धर्मग्रन्थ बाइबिल है, मुसलमान का कुरान है तथा उसी प्रकार हिन्दू का वेद है। वेद में भी उपनिषदों का ही विशेष महत्त्व है। भगवद्गीता को उपनिषदों का भी सार—अर्थ तथा स्पष्ट अर्थ माना जाता है। यह समझने में कोई कठिनाई नहीं है कि गीता में औपनिषद् धर्म को ही स्पष्ट रूप से कहा गया है, अतः गीता भी हिन्दू धर्म का मूल धर्मग्रन्थ है। यह भी कहा जाता है कि पुराणों की रचना वेद की ही बात को साधारण जनता को कथा—कहानियों के माध्यम से समझाने के लिए की गयी है। किन्तु पुराणों के साथ कठिनाई यह है कि वहाँ प्रकृत बात को गल्प (Fiction—फिक्शन) तथा कल्पना—प्रत्यय

(Myth—मिथ) के माध्यम से समझाया गया है। यदि हम पुराणों को कल्पना—प्रत्ययों से अलग करके उनके लक्ष्यार्थ को समझें तब तो ठीक है, अन्यथा वहाँ हिन्दू धर्म के स्वरूप को समझने में भ्रम हो जाएगा। स्मृतियों को भी हिन्दू धर्म का अग्रगण्य माना जाता है; किन्तु स्मृतियों के साथ यह कठिनाई है कि स्मृतियों की रचना तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुई है। जब सामाजिक परिस्थिति बदल गयी तो ये स्मृतियाँ पूर्णरूप से सार्थक (Relevant—रेलवेन्ट) नहीं रहीं और नयी स्मृति की रचना की आवश्यकता हो गयी। पुराने जमाने में भी सामाजिक परिस्थिति कुछ—न—कुछ बदलती रहती थी, इसलिए स्मृतियों में प्रचुर भेद है। हिन्दू धर्म के इतिहास में नयी—नयी स्मृतियों की रचना का प्रवाह जब तक चलता रहा तब तक हिन्दू धर्म सजीव था, और आज जबकि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ पूरी तौर पर बदल गयी हैं, हम उन्हीं पुरानी स्मृतियों में अवरुद्ध हैं, इसलिए आज हिन्दू धर्म सामाजिक स्तर पर अपनी सजीवता खो बैठा है।

कहने का सारांश यह है कि उपनिषद् तथा गीता हिन्दू धर्म के निरपेक्ष रूप से धर्मग्रन्थ माने जा सकते हैं। अतः उपनिषद् तथा गीता हिन्दू धर्म का मापदण्ड है। हिन्दू धर्म का जीवन दर्शन तथा पुरुषार्थ अथवा मूल्य (Value—वैल्यू) वही है जो इनमें वर्णित है। हाँ, एक और वस्तु को हम हिन्दू धर्म के मापदण्ड में रख सकते हैं, वह है उन ऋषि—गुनियों तथा सन्त—महात्माओं का जीवन तथा उनके उपदेश जिन्होंने उक्त जीवन दर्शन जिया है तथा उक्त मूल्यों की प्राप्ति की है। हिन्दू धर्म के इतिहास में ऐसे सन्त—महात्माओं की कमी नहीं रही है जिन्हें हम सच्चे अर्थ में हिन्दू कह सकते हैं। उनके जीवन दर्शन को हम हिन्दू धर्म का मापदण्ड मान सकते हैं। हाँ, यह भी ध्यान देने योग्य है कि धर्माचार्यों

तथा पण्डा—पुजारियों के व्यवहार तथा उपदेश को हम हिन्दू धर्म का मापदण्ड नहीं मान सकते, क्योंकि यह कोई आवश्यक नहीं है कि वे आचार्य तथा पण्डा—पुजारी उक्त जीवनदर्शन को जीते हों तथा उक्त मूल्यों की प्राप्ति किये हों। (ऐसे बहुत से उदाहरणों में तो बल्कि उलटी ही बात पायी जाती है।)

इस भूमिका के साथ हम अपने प्रकृत प्रश्न पर आवें। यह कहा जाता है कि हिन्दू धर्म में व्यक्तिवाद (Indivisualism—इण्डिविजुअलिज्म) है, उसमें सामाजिक भावना का स्थान नहीं है। व्यक्तिवाद का अर्थ है—मैं केवल अपने लिए हूँ, मेरा ही विकास अथवा मेरी ही उन्नति मेरे जीवन का लक्ष्य है, समाज अथवा दूसरों के कल्याण से मेरा कोई मतलब नहीं है। व्यक्तिवाद को दूसरे शब्दों में स्वार्थवाद कहा जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्तिवाद का एक और गहरा अर्थ है, वह यह है कि मेरे जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में समाज—कल्याण की भावना सहायक नहीं है, मैं बिना दूसरों का हित चाहे तथा हित किये, केवल अपने में ही सीमित रहकर, चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता हूँ; बल्कि समाज की ओर ध्यान देने से मेरे अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा ही होगी। अब प्रश्न यह है कि क्या हिन्दू आदर्श और पुरुषार्थ वस्तुतः व्यक्तिमूलक हैं? क्या हिन्दू धर्म के प्रासाद की नींव व्यक्तिवाद पर रखी हुई है?

हिन्दू धर्म को जो व्यक्तिवादी कहा गया है वह सम्भवतः हिन्दू कहे जाने वाले लोगों के वास्तविक व्यवहार को देखकर है। हम अपवादों को ध्यान में न रखें तो देखेंगे कि आज सामान्य हिन्दू घोर स्वार्थवादी व्यक्तिवाद के शिकंजे में जकड़ा हुआ है। उसे दूसरों के कल्याण से कोई मतलब नहीं है, वरन् दूसरों का अहित कर वह अपना हित कर लेना चाहता है। पिता अपने पुत्र को अपने व्यवहार से तथा प्रकट शिक्षा से भी व्यक्तिवादिता ही सिखलाता है। ऐसा लगता है कि स्वार्थपरायण व्यक्तिवादिता हिन्दू के रक्त में समा गयी है। यह व्यक्तिवादिता केवल सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं दीखती वरन् धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी

दीखती है। उदाहरण के लिए, हिन्दू अपने मन्दिर में जाता है तो वहाँ खड़ी भीड़ को ढकेल कर खुद देवमूर्ति के सामने पहुँच जाना चाहता है। वह अपने सामने के लोगों को धक्का देकर मूर्ति के दर्शन से पुण्य प्राप्त करने में कोई असंगति नहीं देखता है। हिन्दू मन्दिरों में इसी कारण अनेक बार झगड़ा—झंझट तथा मार—पीट तक हो जाती है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी व्यक्तिवादिता दिखाई देती है। उदाहरण के लिए, प्रायः हिन्दू आत्म—प्राप्ति (अथवा मोक्ष—प्राप्ति) के लिए परिवार तथा समाज का त्याग कर देता है और सबसे अलग होकर एकान्त साधना करता है। सम्भव है, इन समाज त्यागी व्यक्तियों में से कुछ लोग ऐसे हों जो किसी अन्य रूप में समाज का कल्याण करना चाहते हैं, अथवा यह समाज त्याग केवल थोड़े दिनों के लिए हो अथवा दूसरों का कल्याण करने में सक्षम होने के पहले अपनी तैयारी के लिए हो; किन्तु इनमें से बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो सोचते हैं कि अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति और दूसरों का हितचिन्तन, इन दोनों बातों में कहीं मिलाप नहीं होता। वे सोचते हैं कि दूसरों के विषय में सोचने से हम माया में ही पड़ेंगे, अतः दूसरों की ओर ध्यान देना आत्मप्राप्ति में बाधक है। कभी—कभी ऐसे हिन्दू गुरु देखे जाते हैं जो समाजसेवा में प्रवृत्त होने वाले अपने शिष्य को फटकारते हैं, 'तुम्हें दूसरों से क्या मतलब, तुम अपनी आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास करो।'

हिन्दू का उक्त चित्र सत्य है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इसी आधार पर यह कहना ठीक होगा कि हिन्दू धर्म स्वयं में व्यक्तिवादी है? हिन्दू धर्म व्यक्तिवादी है अथवा नहीं, इसका निर्णय हिन्दू कहे जाने वाले लोगों के व्यवहार को देखकर नहीं करना चाहिए वरन् इस आधार पर करना चाहिए कि हिन्दू धर्म के स्वीकृत धर्मग्रन्थ, उपनिषद् एवं गीता, व्यक्तिवाद सिखलाते हैं अथवा इसके विपरीत बात सिखलाते हैं। प्रस्तुत लघु निबन्ध में हम यह दिखलाना चाहते हैं कि उपनिषद् और गीता में जो धर्म प्रस्तुत किया गया है वह व्यक्तिवादी नहीं है, बल्कि उसमें तो उत्तम परार्थवाद है; ऐसे परार्थ की भावना जो केवल अपर मनुष्यों

तक ही सीमित नहीं है बल्कि समस्त प्राणियों तक विस्तृत की गयी है। औपनिषद् आदर्श एवं पुरुषार्थ परार्थमूलक हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि वहाँ स्वार्थ और परार्थ, व्यक्ति और समाज का समन्वय है, उस जीवन-दर्शन में अपना हित तथा दूसरों का हित एक हो जाते हैं। यदि औपनिषद् धर्म (जो वास्तविक हिन्दू धर्म है) परार्थमूलक है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आज जिनको हिन्दू कहा जाता है वे वस्तुतः हिन्दू धर्म का पालन नहीं कर रहे हैं, वे लोग केवल नाम के हिन्दू हैं, व्यवहार (अथवा आचार) में वे हिन्दू नहीं हैं; दूसरे शब्दों में, वे हिन्दू हैं ही नहीं।

उपनिषद् तथा गीता के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य स्वरूप की प्राप्ति है। इसे आत्मा अथवा परम आत्मा (*Higher Self*) की प्राप्ति कहा गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि हमारा वास्तविक स्वरूप शरीर तक ही सीमित नहीं है, वरन् वह सर्वव्यापी है। सारे संसार से हमारा एकत्व सम्बन्ध है, सब मुझमें हैं और मैं सबमें हूँ, मैं विश्वात्मा हूँ। किन्तु अज्ञानवश अपने स्वरूप को भूलकर मैं इस छोटे से 'अहं' को ही अपना स्वरूप समझ बैठता हूँ और उसे शरीर में ही सीमित कर रखा हूँ। समस्त साधना का लक्ष्य है इस 'अहं' का नाश होना ताकि अपने स्वरूप की प्राप्ति हो सके। जब तक सीमित 'अहं' नहीं गलता तब तक मैं अपने सर्वव्यापी रूप को कैसे पा सकता हूँ? इसलिए उपनिषद् धर्म में जो साधना बतायी गयी है वह है अद्वैत-भाव की साधना, यह भावना कि सभी मेरे ही रूप हैं। द्वैत भावना अर्थात् अपने से दूसरों को अलग समझना यह अज्ञान है, और अद्वैत भावना अर्थात् अपने से सबको एक समझना यह ज्ञान है। यही तो वास्तव में प्रेम है। यह कहा गया है, 'जो सब प्राणियों को अपने में देखता है और अपने में सबको देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता, अर्थात्, सबको प्यार करता है।' जो सभी प्राणियों को अपने में आत्मसात् कर लेता है उसे फिर कैसा मोह और कैसा शोक? गीता में कहा गया है, 'वह सभी प्राणियों की आत्मा हो जाता है, अर्थात् सबके साथ एकत्व अथवा तादात्म्य स्थापित कर लेता है।' 'वह अपने ही समान सब जगह

बराबर भाव से देखता है।' (वस्तुतः यह तादात्म्य भाव तो पहले से ही है, केवल उसके ऊपर का पर्दा हट जाता है)। और, यह भी स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति सबको अपना समझेगा वह सबका हित चाहेगा। इसीलिए गीता में कहा गया है, 'वे लोग सबके हित में रत रहते हैं।'

यह जो सर्वोत्तम भाव अथवा प्रेम की साधना कही गयी है वह इस रूप में नहीं कही गयी है कि जैसे यह एक आदर्श हो और हमें इसका पालन करना चाहिए, बल्कि यह आत्म-प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन के रूप में कही गयी है। जब तक हम दूसरों को अपना नहीं समझते अर्थात् जब तक हमारा अहं गलता नहीं तब तक हम कैसे अपने सर्वव्यापी स्वरूप की प्राप्ति कर सकते हैं? यह बात समझ में नहीं आ सकती कि हम अपने को दूसरों से अलग करके अपने अद्वैत स्वरूप की प्राप्ति कर सकते हैं। अतः सबको अपना समझना, सबको प्यार करना, सबका हित चाहना—यह सहकारी सद्गुण मात्र नहीं है, बल्कि यही तो सारभूत साधना है (जिसको हिन्दू लोग भूल गये)। इसको चैतन्य का विस्तार अथवा विकास कहा जा सकता है। हम जीवात्मा (*Lower Self*) हैं और हमारा वास्तविक स्वरूप परमात्मा (परम आत्मा—*Higher Self*) है, हम लहर के समान हैं और परमात्मा सभी लहरों के आधार में रहने वाले सागर के समान है। परमात्मा (जो हमारा वास्तविक स्वरूप है) हमारे इस एक शरीर में सीमित आत्मा मात्र नहीं है वरन् वह सभी आत्माओं में व्याप्त है, सभी आत्माएँ इसकी अपनी हैं। अतः अपने वास्तविक स्वरूप (परमात्मा) को प्राप्त करने का अर्थ हुआ सभी आत्माओं को अपना समझना। जब तक हम अपने में ही सीमित रहेंगे और दूसरों में अपने को नहीं फैला देंगे अर्थात् दूसरों को अपना नहीं समझेंगे, तब तक हम अपने परमात्मरूप में कैसे जा सकते हैं? यदि लहर सागर बनना चाहती है तो उसे अपने सीमित व्यक्तित्व को छोड़ना पड़ेगा और सभी लहरों में अपने को फैलाना पड़ेगा, सागर-रूप प्राप्त करने का अर्थ है सभी लहरों को अपना समझना। तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप को पाने (*Self Realization*) के लिए आवश्यक है कि हम सभी प्राणियों

को अपना समझें। दूसरे शब्दों में, आत्म-प्राप्ति के लिए प्रेम की साधना आवश्यक है।

हिन्दू संत—महात्माओं के जीवन तथा उपदेशों में भी हम उपर्युक्त बात प्रचुर मात्रा में पाते हैं। कबीर ने कहा है, 'जप, तप, व्रत, आदि करने से क्या फायदा? मथुरा और काशी जाने अर्थात् तीर्थ करने से क्या फायदा? जो व्यक्ति अपने समान सबको समझता है उसको अविनाशी तत्व की प्राप्ति होती है।' कबीर ने प्रेम को परम प्रधानता दी है। उन्होंने फिर कहा है, 'पोथी पढ़-पढ़कर संसार मर गया, किन्तु कोई पण्डित नहीं हुआ। हाँ, जिसने प्रेम का ढाँई अक्षर पढ़ लिया वह पण्डित हो गया।' सन्तों और भक्तों के जीवन में भी यह बात चरितार्थ होती रही है। वे लोग जब तक रहे हैं तब तक सबको अपना समझते रहे हैं और सबका हित चाहते रहे हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि आचार्यों की धारा सन्तों और भक्तों की धारा से भिन्न रही है। धर्माचार्यों ने तो हिन्दू धर्म में बहुत सी ऐसी बातें मिला दी हैं जिनसे धर्म का वास्तविक स्वरूप गौण हो गया है। किन्तु सन्तों में हम हिन्दू धर्म की धारा को अक्षुण्ण रूप में पाते हैं।

हिन्दू धर्म कभी लोगों के व्यवहार में भी ठीक से उतरा रहा होगा, किन्तु यह भी सत्य है कि बाद में हिन्दू धर्म के व्यावहारिक पक्ष में घोर व्यक्तिवादिता आ गयी। जब ऐसे अवसर आये तब प्रायः धर्मसुधारकों का उदय हुआ जिन्होंने हिन्दू धर्म के व्यवहार पक्ष को नयी दिशा दी। इसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म परिष्कृत होकर और कभी-कभी तो नये धर्म के रूप में प्रकट हुआ। उदाहरण के लिए, भगवान् बुद्ध के समय हिन्दू धर्म औपनिषद् धारा को भूलकर व्यक्तिवादी सीमाओं में आबद्ध हो गया था। बुद्ध के उपदेशों के फलस्वरूप वही हिन्दू धर्म जब निखरकर सामने आया तो नये धर्म के रूप में प्रतीत हुआ। बौद्ध धर्म वस्तुतः हिन्दू धर्म का ही परिष्कृत रूप है। बौद्ध धर्म में जो बोधिसत्व का आदर्श है वह व्यक्तिवादिता के ठीक विपरीत है। बोधिसत्व प्राणियों के दुःखों को देखकर द्रवित हो उठता है, वह सबके कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, बल्कि सबके कल्याण के लिए वह अपने निर्वाण को भी छोड़ देना चाहता

है। बौद्ध धर्म में मैत्री भाव (जो वस्तुतः सबके प्रति कल्याण भाव या प्रेम भाव है) का विशेष महत्व है।

बाद के जमाने में नानक ने भी लगभग वही काम किया जो पहले बुद्ध ने किया, अर्थात् सिक्ख धर्म भी हिन्दू धर्म की अन्धी व्यक्तिवादिता के सुधाररूप में प्रकट हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि सिक्ख धर्म में समाज-कल्याण की भावना तथा बन्धुत्व की भावना (*Fellow feeling*) का बड़ा महत्व है। आज भी सिक्खों के व्यावहारिक पक्ष में यह भावना बहुत कुछ सजीव दिखाई देती है। कुछ लोग समझते हैं कि हिन्दू धर्म में सिक्ख धर्म के रूप में जो समाज-कल्याण तथा बन्धुत्व की भावना आयी वह मुसलमान धर्म के (और सम्भवतः ईसाई धर्म के भी) प्रभाव से आयी। किन्तु यह धारणा पूर्णतः सत्य नहीं है। सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म की आन्तरिक विकास-धारा (*Inner dynamism*) का परिणाम है। हाँ, यह सम्भव है कि जब हिन्दुओं ने मुसलमानों में विद्यमान बन्धुत्व भाव को देखा तो यह अनुभव किया कि इसके लिए तो हमारे यहाँ भी ठोस आधार-भूमि है और हम उससे विमुख हो गये हैं, और तब हिन्दुओं में भी सिक्ख धर्म के रूप में अपनी ही आन्तरिक धारा का विकास हुआ। हमारे कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दुओं पर मुसलमानों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा अथवा हिन्दुओं ने उनसे कुछ सीखा नहीं। हिन्दुओं ने मुसलमानों से बहुत कुछ सीखा, कम-से-कम यह तो सीखा ही कि मुसलमानों में जो बन्धुत्व है उसके लिए हमारे यहाँ प्रचुर और स्पष्ट आधारभूमि होते हुए भी हम उससे कितना दूर हैं, आँख होते हुए भी हम कितने अन्धे हैं।

आधुनिक काल में स्वामी विवेकानन्द (जो रामकृष्ण परमहंस से प्रेरित थे), श्री अरविन्द तथा अन्य महापुरुषों ने भी हिन्दुओं को अपनी अन्धी व्यक्तिवादिता से छुड़ाने का प्रयास किया। (स्मरणीय है कि हिन्दू धर्म में यह प्रयास धर्माचार्यों और मठ-मठान्तरों की ओर से नहीं हुआ है)। बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, महात्मा गाँधी आदि राजनेताओं ने भी अपने ढंग से यह प्रयास किया। पता नहीं इन लोगों का प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है। हिन्दू धर्म

सम्भवतः उस सोये हुए कुम्भकरण की तरह है जिसे जगाने के लिए और भी अधिक प्रयास की आवश्यकता है।

अब यहाँ एक प्रश्न यह विचारणीय है कि जब वास्तविक हिन्दू धर्म अर्थात् उपनिषद् और गीता का धर्म परार्थवादी है तो क्या कारण है कि हिन्दू लोग स्वार्थान्ध व्यक्तिवादिता में जकड़ गये और जकड़े हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर पाना कठिन है। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि हिन्दू आदर्श और पुरुषार्थ तो अत्यन्त उदार और परार्थमूलक है, किन्तु हिन्दुओं का व्यवहार अत्यन्त स्वार्थपूर्ण है। हिन्दू मुँह से कहने में तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (सारा संसार ही परिवार है) कहेगा किन्तु करने में वह ठीक इसके उल्टा करेगा। आदर्श और व्यवहार की इस भयंकर खाई का, इस घोर पाखंड का, क्या कारण है यह समझ में नहीं आता। ऐसा लगता है कि हिन्दू नेता कालान्तर में इस सत्य को भूल गये कि दूसरों के हित चिन्तन में अपना हित है, दूसरों को अपना आत्मप्राप्ति का साधन है।

ऐसा भी देखने में आता है कि कभी-कभी हिन्दू संतो ने ऐसे प्रयासों को प्रोत्साहित नहीं किया है जहाँ अहंकार लेकर समाज सेवा का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए, रामकृष्ण परमहंस ने एक बार एक व्यक्ति को डाँट दिया था जिसने उनसे यह कहा था कि आप क्यों नहीं अपने शिष्यों को भगवान की भक्ति के बजाय देश की सेवा करना सिखाते हैं। रामकृष्ण परमहंस का उत्तर था कि पहले भगवान् के प्रति समर्पण करो और फिर ईश्वर जो कराये सो करो, क्योंकि वही यह ठीक से जानता है कि समाज का कल्याण किसमें है। बंगाल के ही संत विजयकृष्ण गोस्वामी, काशी के श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय, अरूणाचल के रमण महर्षि आदि ने भी अहंकार से प्रेरित समाज सेवा का हमेशा वर्जन किया है। यह समझने में कोई कठिनाई नहीं है कि जो लोग अहंकार से प्रेरित होकर समाज का कल्याण करने चलते हैं वे समाज का कल्याण करने के बदले घोर अकल्याण कर बैठते हैं। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। इसके विपरीत हम देखते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् के निमित्त भाव से अथवा स्वाभाविक

भाव से समाज सेवा करता है उससे समाज का वास्तविक कल्याण होता है। उक्त संतो का जीवन इसी बात का ज्वलंत उदाहरण है। इनका जीवन दूसरों के लिए ही था, ये जब तक रहें तब तक सबका कल्याण ही करते रहें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म का वास्तविक स्वरूप जो उपनिषद् और गीता में तथा सन्तों के जीवन में दिखता है वह परार्थवादी है। साथ ही, यह भी सत्य है कि आज का हिन्दू जीवन इसके विपरीत घोर व्यक्तिवादिता में जकड़ा हुआ है। क्या हिन्दू धर्म इसी भाँति चलता रहेगा? क्या हिन्दू धर्म का वास्तविक स्वरूप उसके धर्म-ग्रन्थों और कुछ सन्तों के जीवन तक ही सीमित रहेगा तथा शेष जन-जीवन इसके विपरीत आचरण करता रहेगा? नहीं, आज का हिन्दू जीवन भले ही अन्ध-रात्रि (Dark Night) से गुजर रहा हो, किन्तु हमेशा ऐसा नहीं रहेगा। हिन्दू धर्म की वास्तविक धारा जो उपनिषद्-गीता में, सन्तों के जीवन में तथा आज भी समाज के इने-गिने व्यक्तियों के जीवन में प्रवाहित हो रही है, वह कभी सूख नहीं सकती और एक दिन किसी-न-किसी रूप में पूरे सामाजिक स्तर पर प्रकटित होगी। इकबाल के शब्दों में, 'कुछ है कि अब भी हस्ती मिटती नहीं हमारी।' हमारी इस आशावादिता का आधार यह है कि हिन्दू धर्म केवल आदर्श की बात नहीं करता, वरन् जीवन के वास्तविक सत्य को दिखलाता है, उपदेश नहीं करता बल्कि स्मरण दिलाता है। जीवन का यह सत्य है कि हम दूसरों का सुख चाहे बिना स्वयं सुखी नहीं हो सकते, दूसरों को आत्मसात् किये बिना अपनी अनुभूति नहीं कर सकते। इसी सत्य को हृदयंगम कराने के लिए प्रकृति बार-बार हमें कष्ट देती है और हमारा अहंकार तोड़ती है। हिन्दू कब तक इस सत्य से अपना मुँह मोड़ता रहेगा? एक दिन तो उसे इस रास्ते पर आना ही होगा। इसीलिए गीता में अन्त में कृष्ण ने अर्जुन को कहा, 'यदि तुम अहंकारवश यह सोचते हो कि नहीं लड़ूंगा तो यह तुम्हारा झूठा निश्चय है, प्रकृति तुमको जबरन लड़ायेगी,' और 'अज्ञानवश जो तुम नहीं करना चाहते हो उसे विवश होकर करना ही पड़ेगा।' ♦

गाँधी जी से हम क्या प्रेरणा लें

प्रो० चन्द्रकला पाडिया

महात्मा गाँधी जी के जीवन से प्रेरणा लेने के लिए यह आवश्यक है कि हम जाने कि किस प्रकार वे मोहन से महात्मा बने। किसी ने कहा था कि मैं महात्मा गाँधी नहीं बनना चाहता पर उस मार्ग की खोज अवश्य करना चाहता हूँ जिस पर चलकर वह वरेण्य बन सके। गाँधी जी ने स्वयं भी लिखा है कि कोई व्यक्ति किस तरह रहता है यह बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व में स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रस्तुत लेख इसी अभिप्राय से लिखा जा रहा है कि हम यह जानने का प्रयास करें कि गाँधी जी किस प्रकार राष्ट्रपिता अथवा महामानव बने।

गाँधी जी ने भारत को दासता से मुक्ति दिलायी लेकिन समानान्तर रूप से यह भी सत्य है कि उनका लक्ष्य मात्र देश को मुक्त कराना नहीं अपितु व्यक्ति को मुक्त कराना भी रहा, अतः उन्होंने स्वयं को भी मुक्त किया। गाँधी जी का कहना था कि दुनिया स्वयंमेव परिवर्तित हो जायेगी यदि तुम स्वयं को परिवर्तित करो।

दक्षिण अफ्रिका में जिस समय गाँधी जी ने रंगभेद के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ किया तब गाँधी जी के समक्ष असंयमित होने के अनेक अवसर आये, किन्तु कठिन संयम से उन्होंने अपने ऊपर विजय प्राप्त की। संयम का पाठ उन्होंने जीवन के प्रारम्भ से ही सीखा था। जब वे अफ्रीका गये उनके साथ एक घटना घटी; वे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठकर यात्रा कर रहे थे उस समय उस देश का कोई काला आदमी ऐसा नहीं कर सकता था। फर्स्ट क्लास का टिकट होते हुए भी उन्हें अपमानित करके ट्रेन से उतार दिया गया। ठंड से ठिठुरते हुए उन्हें उस स्टेशन के अंधेरे वेटिंग रूम में रात्रि व्यतीत करनी पड़ी। उस क्षण उनके मन में एक प्रश्न उभरा 'क्या इस अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए या सब कुछ छोड़ कर भारत वापस चले जाना चाहिए?' भारत के बारे में उन्होंने विचार करते हुए सोचा कि वहाँ भी तो गौरे सभी जगह काले लोगों का अपमान करते हैं। इस तरह हम कब तक भागेते रहेंगे। उन्होंने अनेक अपमान के घूट पिये।

उन्होंने सोचा इस अन्याय का प्रतिकार करना ही होगा, हाँ इस अन्याय को सहन किया जा सकता है जब क्रोध, भय और घृणा को जीत लिया जाय।

गाँधी जी के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आए, परन्तु उन्होंने क्रोध को अपने ऊपर हावी होने नहीं दिया। उन्होंने भय को जीता, घृणा को भी जीता तभी वे अहिंसा/सत्याग्रह जैसे अमोघ अस्त्रों का आविष्कार कर पाये। गाँधी जी का मानना था कि सच्चे सत्याग्रही को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भले ही उसका आदर हो या ना हो पर उसे ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे विरोधी के मन में घृणा पैदा हो।

दक्षिण अफ्रिका में ट्रान्सवाल में सन् १८८५ में एक कड़ा कानून बना। १८८६ में इसमें कुछ सुधार हुआ। उसके फलस्वरूप यह तय हुआ कि हर एक हिन्दुस्तानी को प्रवेश—फीस के रूप में तीन पौंड जमा कराने होंगे। उनके लिए अलग छोड़ी गयी जगह में ही वे जमीन मालिक हो सकते थे। पर वहाँ भी उन्हें व्यवहार में जमीन का स्वामित्व नहीं मिला। उन्हें मताधिकार भी नहीं दिया गया। ये तो खास एशियावासियों के लिए बने कानून थे। इसके अलावा, जो कानून काले रंग के लोगों पर लागू होते थे, वे भी एशियावासियों पर लागू होते थे। उनके अनुसार हिन्दुस्तानी पटरी (फुटपाथ) पर अधिकार पूर्वक नहीं चल सकते थे। इस अंतिम कानून का अमल हिन्दुस्तानियों पर न्यूनाधिक परिमाण में होता था। जिनकी गिनती अरबों में होती थी, वे बतौर मेहरबानी के इस नियम से मुक्त माने जाते थे। मतलब यह कि इस तरह की राहत देना पुलिस की मर्जी पर रहता था।

गाँधी जी पर भी इन नियमों का प्रभाव पड़ा और उन्हें कुलीपन के कड़वे अनुभव से गुजरना पड़ा। पटरी पर चलने का प्रश्न उनके लिए कुछ गंभीर परिणाम वाला सिद्ध हुआ। एक बार गाँधी जी प्रिटोरिया में प्रेसिडेंट स्ट्रीट के खुले मैदान में घूमते हुए जा रहे थे कि एक सिपाही ने बिना चेतावनी के पटरी पर से उतर जाने को कहा, उन्हें धक्का

मारा, लात मारी और नीचे उतार दिया। गाँधी जी गहरी सोच में पड़ गये। लात मारने का कारण पूछने से पहले ही, मि० कोट्स ने, जो उसी समय घोड़े पर सवार होकर उधर से गुजर रहे थे, उन्होंने गाँधी जी को पुकारा और कहा: “गाँधी, मैंने सब देखा है। आप मुकदमा चलाना चाहें तो मैं गवाही दूंगा। उन्होंने कहा कि उन्हें इस बात का बहुत खेद है कि गाँधी जी पर इस प्रकार हमला किया गया।”

इस पर गाँधी जी ने कहा, “इसमें खेद का कोई कारण नहीं। सिपाही बेचारा क्या जाने? उसके लिए तो काले सब एक से ही हैं। वह हथियारों को पटरी से इसी तरह उतारता होगा। इसीलिए मुझे भी धक्का मारा। मैंने तो नियम बना लिया है कि मुझे पर जो बीतेगी, उसके लिए मैं कभी भी अदालत नहीं जाऊंगा। इसलिए मुझे मुकदमा नहीं चलाना।”

मि० कोट्स ने कहा, “यह तो आपने अपने स्वभाव के अनुरूप ही बात कही है। पर आप इस पर फिर से सोचिए। ऐसे आदमी को कुछ सबक तो देना चाहिए।” इतना कहकर मि० कोट्स ने सिपाही से बात की और उलाहना दिया। सिपाही ने गाँधी जी से माफी मांगी। गाँधी जी तो उसे पहले ही माफ कर चुके थे।

इसी तरह जब गाँधी जी दूसरी बार भारत से लौटकर दक्षिण अफ्रिका पहुँचे तो गोरे गाँधी जी के विरुद्ध हो गये और उन्होंने गाँधी जी को जहाज से नहीं उतरने दिया जब वह किसी प्रकार से उतरे तो उन पर प्राण घातक आक्रमण कर दिया गया। उस ब्रिटिश सरकार के उपनिवेश मंत्री ने नेटाल सरकार से कहा था कि वह आक्रमणकारियों को गिरफ्तार करके उनपर मुकदमा चलाए। गाँधी जी ने तब भी यह कहा, ‘मुझे आशा है कि उन्हें माफ करने और उन पर मुकदमा न चलाने की बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। मुझे उनपर जरा भी गुस्सा नहीं आया है। और फिर इस मामले में क्रोधावेश में हाथ छोड़ने वाले दो-चार आदमियों को दोषी मानकर सजा दिलाना उचित न होगा क्योंकि असली अपराधी तो गोरी जाति के मुखिया और नेटाल की सरकार के वे सदस्य हैं जो डरबन के गोरो को गुमराह कर उनके गुस्से को भड़काते रहे हैं।’

गाँधी जी का स्पष्ट एवं दृढ़ मत था कि सत्याग्रही

क्रोधी हो ही नहीं सकता। वह तो अपने हृदय में सबके प्रति प्रेम का अक्षय भण्डार लेकर चलता है। सन् १९१७ में चम्पारन में उन्हें निलहे गोरो के विरुद्ध सत्याग्रह करना पड़ा। जिस समय वे उनके अन्याय व अत्याचार की जांच कर रहे थे, उस समय गोरे बहुत उद्विग्न थे। ऐसा सुनने में आया कि गोरे गाँधी जी को मार डालना चाहते हैं और इस काम कि लिए हत्यारे तैनात किये हैं। उसी रात गाँधी अकेले और चुपचाप उस गोरे के बंगले पर जा पहुँचे और कहा ‘मैंने सुना है कि आपने मुझे मार डालने के लिए हत्यारे तैनात किए हैं इसलिए मैं बिना किसी को सूचना दिये अकेले ही चला आया हूँ।’ यह देखकर गोरा हतप्रभ रह गया। ऐसा निडर व्यक्ति उसने पहली बार ही देखा था। सत्याग्रह के शास्त्र में निर्भीक होना सबसे पहली शर्त है और वह निर्भीकता पाई जा सकती है क्रोध को जीतकर। गाँधी जी न केवल स्वयं क्रोध को जीतने का प्रयत्न करते थे, बल्कि अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करते थे।

निन्दा व आलोचना का सामना गाँधी जी ने जीवनभर स्थितप्रज्ञ बनकर किया। गाँधी जी के सत्याग्रही साधनों की बड़ी तीव्र आलोचना की जाती है जिसमें ‘उपवास’ प्रमुख है। ऐसी अवधारणा है कि उपवास के माध्यम से गाँधी जी नैतिक दबाव डालकर जबरन ही अपनी बातों को मनवा लेने का प्रयास करते थे। अमेरिकी मिशनरी ई० स्टेनली जॉंस ने यरवदा जेल में गाँधी जी से पूछा: “क्या आपका उपवास जोर-जबरदस्ती है जैसी जीसस सलीब पर से आपके ऊपर करते हैं। उपवास सलीब को माध्यम बनाकर मुद्दे को स्पष्ट करने का उपक्रम है हालांकि प्रकट में यह तर्क को दबाता दीखता है, पर वास्तव में इसका लक्ष्य जड़ता और पूर्वाग्रह के मिश्रण से बुद्धि को मुक्त करना है, जिसने सदियों से हिन्दू समाज को एक कुत्सित सामाजिक अन्याय सहने के लिए बाध्य किया है।

गाँधी जी सार्वजनिक हित की कीमत पर भी पवित्रता की खोज करते थे। यही कारण था कि गाँधी जी ने किसी एक धर्म को सर्वमान्य नहीं मान लिया। इंग्लैण्ड में जिस समय थियोसोफिस्ट सोसाइटी का साहित्य, धर्म में उनकी रुचि को तीव्र कर रहा था, उन्हीं दिनों शाकाहार के

प्रति उत्साही एक साथी ने उनका परिचय बाइबिल से कराया। *दि न्यू टेस्टामेंट* विशेष रूप से *सर्मन ऑन दि माउण्ट* युवक गाँधी जी के हृदय में सीधा प्रवेश कर गया: “तुम दुष्टता का प्रतिरोध मत करो, जो भी तुम्हारे दायें गाल पर थप्पड़ मारे तुम दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दो। और यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा कोट तुमसे ले ले, तब तुम अपनी कमीज भी उसे सौंप दो।”

गाँधी जी गुजराती कवि शामल भट्ट की निम्नलिखित पंक्तियाँ अपने बचपन में गुनगुनाया करते थे:

“एक कठोरा पानी के बदले भरपूर भोजन दो सहृदय अभिवादन के उत्तर में सोत्साह दंडवत करो;

सिर्फ एक पैसे के बदले में गिन्नी लौटाओ; तुम्हारा जीवन बचाया जाए तो जीवन देने में पीछे न रहो। ज्ञानी पुरुषों के वचन और कर्म ऐसे ही होते हैं;

एक छोटी-सी सेवा का वे दस गुना पुरस्कार देते हैं। लेकिन जो सचमुच सज्जन है, सबको समान समझते हैं;

और बुराई के बदले प्रसन्नतापूर्वक अच्छाई करते हैं।”

धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन, धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का पाठ, विद्वानों से चर्चाएं एवं पत्र व्यवहार के द्वारा गाँधी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सच्चा धर्म, बुद्धि के बदले हृदय का विषय अधिक है और यह कि सच्चे विश्वास वे ही हैं, जिन्हें शब्दतः जिया गया है। गाँधी जी के सर्वप्रथम जीवनी लेखक रेवरेंड जे० डोक ने १९०९ में लिखा था कि गाँधी जी के विचार ईसाइयत से इतनी निकटता से जुड़े हैं कि उन्हें पूरी तरह हिन्दू नहीं समझा जा सकता और हिंदुत्व से इतने सराबोर हैं कि उन्हें ईसाई नहीं माना जा सकता।

राजनीति में भी गाँधी जी ने साध्य की पवित्रता के अनुरूप ही साधनों की पवित्रता को स्वीकार किया। स्वतंत्रता यदि पवित्र है तो उसको पाने का मार्ग अपवित्र क्यों हो? उन्होने कहा, “मैं भारत की आजादी के लिए जी रहा हूँ और उसी के लिए मरूँगा; क्योंकि वह सत्य का ही एक अंग है। परन्तु यह आजादी क्रांतिकारी साधनों के द्वारा नहीं बल्कि अहिंसक साधनों के द्वारा प्राप्त करनी होगी।” यही कारण है कि उन्होंने कभी भी क्रांतिकारियों के साथ कोई समझौता नहीं किया। चौरी-चौरा में भयानक दुर्घटना घटित

हो गई तब अहिंसक होने के संबंध में देशवासियों के प्रति उनका विश्वास हिल गया और यह बात सारी दुनिया के आगे निष्कपट भाव से प्रकट करने में उन्हें लेशमात्र भी दुविधा न हुई। अपनी भूल बार-बार स्वीकार करके राजशक्ति के साथ शीघ्र होने वाले तीव्र संघर्ष की सम्भावनाओं को उन्होंने क्षण-भर में अपने हाथ से रोक दिया। सिंध से असम, हिमालय से हिंद महासागर तक के प्रांतों के सत्याग्रहियों के मुख निराशा और निष्फल क्रोध से स्याह हो उठे।

एक ओर तो लोगों ने कहा कि इस समय सत्य के प्रति निष्ठा, निश्छलता, इच्छाशक्ति और त्याग की जो भावना महात्मा जी ने प्रकट की वह उन्हें इतिहास में संसार के महानतम पुरुषों के बीच में प्रतिष्ठित कर देगी, दूसरी ओर वे लोग भी थे जिन्होंने उनके सामने यह तर्क उपस्थित किया कि अंग्रेजों ने यहां निरूपद्रव मार्ग से राज्य स्थापित नहीं किया। रक्तपात करने में भी संकोच नहीं किया। तब केवल हम लोगों को ही निरूपद्रव पंथी रहना होगा, इतनी बड़ी जिम्मेदारी हम क्यों लें? परन्तु महात्मा जी ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया; कहा कि मैं सत्य के अतिरिक्त किसी और राह से स्वराज्य नहीं चाहता, चौरी-चौरा और बम्बई में जो कुछ हुआ उससे स्पष्ट हो गया कि देश अभी सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं है। कभी किसी के हाथ से दान की तरह स्वाधीनता नहीं ली जाती। लेने पर भी वह नहीं टिकती। उसे हृदय के रक्त से प्राप्त करना होता है। अहिंसा की कीमत पर गाँधी जी भारत के लिए स्वाधीनता स्वीकार नहीं करना चाहते थे। भारत बिना अहिंसा के स्वाधीनता नहीं ग्रहण करेगा। और उन्होंने सत्याग्रह रोक दिया। मनुष्य का धर्म है कि साधना के पश्चात् जो अपने को सत्य लगे उसी चीज को कहे, भले ही वह जगत् को भूल प्रतीत हो।

गाँधी जी का सम्पूर्ण जीवन सत्य और अहिंसा को जीवंत बनाने में व्यतीत हुआ। उन्होंने सत्य और अहिंसा को सिद्धांततः प्रस्तुत ही नहीं किया वरन् उसका व्यावहारिक प्रयोग भी किया। हमें गाँधी जी से प्रेरणा लेकर अनासक्त जीवन जीने का व्यावहारिक प्रयोग करना चाहिए। ♦

जीवन—मूल्यों की अद्वैतपरक अवधारणा

डा० दीपंजय श्रीवास्तव

वर्तमान समय में मानव एक तरफ भौतिक, आर्थिक, औद्योगिक शैक्षणिक तथा वैज्ञानिक विषयों में प्रगति कर रहा है तो दूसरी ओर हम अपने 'जीवन मूल्यों' को भूलते जा रहे हैं। आज हमारे सामने एक जटिल समस्या है—'मूल्यों का ह्रास'। आज व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक हर क्षेत्र में यह समस्या दृष्टिगत होती है।

प्रश्न उठता है कि 'मूल्य क्या है?' इसके उत्तर में कह सकते हैं कि 'मूल्य जीवनधारा के वे उच्च आदर्श हैं जो हर प्रकार के अन्धकार, अज्ञानता तथा संकीर्णता से ऊपर उठने में मनुष्य की मदद करते हैं।' 'मूल्यों का सम्बन्ध किसी व्यक्ति या समूह से होता है। ये मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं और उनके जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं।

आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'अद्वैत' का अर्थ है 'न द्वैतं इति अद्वैतं' अर्थात् जिस दर्शन में दो सत्ताओं में विश्वास नहीं किया जाता है, वही अद्वैत है। शंकराचार्य की दार्शनिक विचारधारा के सार में जो तत्त्व है वह अद्वैत 'ब्रह्म' है। अद्वैतवाद के आध्यात्मिक एवं नैतिक आदर्श ने अतीत काल से आज तक भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखा। भारतीय संस्कृति के निर्माण में अद्वैत दर्शन के अभेद दृष्टि की अत्यधिक भूमिका रही है। शंकर ने ब्रह्म की एक मात्र सत्ता का प्रतिपादन करके जगत् प्रपंच को मिथ्या एवं जीव को परमार्थतः ब्रह्म घोषित किया। शंकर के इस सिद्धान्त से व्यावहारिक जीवन मूल्य में 'समष्टि—दृष्टि' एवं 'अनेकता में एकता' की शिक्षा मिलती है।

शंकराचार्य ने अद्वैत—वेदान्त को तर्कीय आधार ही नहीं प्रदान किया बल्कि उसे व्यावहारिक जीवन के साथ सम्बद्ध कर सामाजिक मूल्य व्यवस्था की भी उद्भावना की। यद्यपि अद्वैत वेदान्त ब्रह्म एवं आत्मा की एकता सिद्ध करने में विशेष रूप से प्रवृत्त है तथापि व्यक्ति के जीवन और समाज की व्यवस्था का आदर्श रूप प्रदान करके इसकी

सार्थकता को जाना जा सकता है।

कुछ विचारकों का मत है कि अद्वैत वेदान्त का न ही सामाजिक महत्त्व है, और न ही व्यावहारिक। उनका यह तर्क है कि इस दर्शन में ब्रह्म को ही सत्य माना गया है, और जीव—जगत् की अनेकता तो मिथ्या है। मिथ्या पदार्थों में कोई व्यवस्था या प्रयोजन खोजना निरर्थक है। वह यह भी कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष असामाजिक होते हैं, उसे न समाज के प्रति रूचि होती है और न उस पर सामाजिक वातावरण का कोई प्रभाव पड़ता है।

आचार्य शंकर ने इस प्रकार की शंका को दूर करने के लिए त्रिविध सत्ताओं—प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं को बताया है। जब तक व्यक्ति स्वप्न जगत् में रहता है तब तक उसके लिये वही सत्य है। जागने पर ही उसे स्वप्न का मिथ्यापन पता चलता है। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान होने से पहले व्यावहारिक जीवन ही सत्य है। आचार्य शंकर व्यवहार में जीवन और जगत् को कभी मिथ्या नहीं मानते। व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति अपने आसपास के जगत् में दायित्वपूर्ण जीवन जीता है, इसे मिथ्या नहीं मानना चाहिये। व्यावहारिक सत्य को स्वीकार कर शंकर व्यक्ति के जीवन और समाज व्यवस्था आदि की अपेक्षा नहीं कर सकते। आचार्य शंकर इस व्यवस्था को 'धर्म' नाम देते हैं। वर्णाश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म आदि इसी के अन्तर्गत आता है। धर्म के ये सभी भेद व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये शंकराचार्य इसे "प्रवृत्ति धर्म" कहते हैं इसके अतिरिक्त "निवृत्ति धर्म" भी है, जिसका सम्बन्ध निःश्रेयस (दुःख का अभाव या मोक्ष) से है। यदि हम धर्म की व्यवस्था न माने तो सामाजिक विघटन उत्पन्न हो जायेगा तथा जीवन और समाज अव्यवस्थित हो जायेगा।

वर्तमान समय में अद्वैत वेदान्त के मूल्य—शिक्षा की प्रासंगिकता और भी बढ़ गयी है। हमें आज समाज में

सभी जगह मजहब, धर्म, जाति, उपजाति, क्षेत्रीय भाषा आदि के नाम पर विभाजक प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। अपने स्वार्थ के कारण लोगों को ऊँच—नीच, अगड़े—पिछड़े, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक आदि अनेक टुकड़ों में विभाजित कर दिया गया है, इससे सामाजिक परिवेश अत्यधिक विषाक्त एवं द्वेषपूर्ण हो गया है। इसका एकमात्र कारण अद्वैत वेदान्त की समग्र दृष्टि, अभेद दृष्टि एवं समग्रता की प्रवृत्ति को त्यागना है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सभी जीवों में एक ही ब्रह्म या आत्मा व्याप्त है। इस शिक्षा को अपना कर हम समाज में प्रेम, एकता, उदारता, सहानुभूति, भाईचारा आदि को बढ़ा सकते हैं। इससे प्रेरित होकर हम विश्व को एक इकाई स्वीकार करके “*वसुधैव कुटुम्बकम्*” तथा “*सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः*” एवं “विश्व प्रेम” का उद्घोष कर सकते हैं।

अद्वैत वेदान्त के मूल्य—शिक्षा का अनुसरण करके आज मनष्य—मनुष्य में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लड़ाई—झगड़े आदि को रोका जा सकता है। यदि सभी जीवों में एक ही आत्मा की सत्ता है तो मानव में जाति भेद, नस्ल भेद, लिंग भेद, ऊँच—नीच का भेद कैसे हो सकता है? अद्वैत वेदान्त की अभेद दृष्टि और विश्वात्म की शिक्षा द्वारा मानव की एकता पर विशेष बल देकर मनष्य—मनुष्य में भेद—भाव को अस्वीकार कर मानव जाति का अत्यधिक कल्याण किया जा सकता है।

आज समाज में चारों ओर स्वार्थभाव, बेईमानी, भ्रष्टाचार, आलस्य, ईर्ष्या, क्रोध, उत्तेजना, चिन्ता, लोक—मोह आदि फैला हुआ है, ये सभी तत्त्व ‘मानव मूल्य’ हास को बढ़ावा देने वाले तत्त्व हैं। इसी से चारों तरफ आतंकवाद, बेरोजगारी, या यूँ कहें कि अंधकार ही अंधकार फैला है।

अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित “साधन चतुष्टय”—नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्रार्थ, भोग विराग, शमदमादि साधन सम्पन्न तथा मुमुक्षुत्व का आदर्श इस बात पर बल देता है कि हमें संयमी जीवन व्यतीत करना चाहिए, हम लोभ, काम, क्रोध, मोह, मद आदि से दूर होकर आनन्दमय

जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

समाज में फैले हुए अन्धकार को “साधन चतुष्टय” रूपी दीपक द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है। नित्यानित्य वस्तुविवेक का आदर्श मानव जीवन को यह बताने के लिए पर्याप्त है कि अज्ञान मनुष्य का कितना बड़ा शत्रु है। हम जानते हैं कि कामनाओं की तृप्ति से कामनायें शान्त नहीं होती। इच्छाओं की अनियन्त्रित वृद्धि दुर्गुणों को बढ़ाकर मानव जीवन को दुःखसागर में डाल देती है। यहाँ हम कह सकते हैं कि अद्वैत वेदान्त के शम—दम वैराग्य आदि की शिक्षा मानव के लिए आज प्रासंगिक है। इसका जीवन मुक्त का आदर्श और शंकराचार्य का सादगीपूर्ण कर्मठ जीवन हमें सामाजिक हित में प्रयासरत होने की प्रेरणा देता है।

आचार्य शंकर के अनुसार अपने सत् स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करना ही मानव जीवन का चरम मूल्य है। ब्रह्म ज्ञान से ऊँचा कोई ज्ञान नहीं है, और न ही इससे बड़ा कोई सुख। उसका ज्ञान परम् सत् का ज्ञान ही नहीं है अपितु मानव जीवन के परम पुरुषार्थ का ज्ञान भी है।

अतः आत्म साक्षात्कार ही मानव जीवन का सर्वोच्च मूल्य है, सभी मूल्यों की कसौटी है। जो कार्य इसमें सहायक हैं वे शुभ तथा जो इसमें बाधक हैं वे अशुभ हैं। आत्म साक्षात्कार अर्थात् मोक्ष को ही जीवन का चरम मूल्य मानने के साथ—साथ, शंकर ने यह भी बतलाया है कि मानव की अभिलाषायें संसार की अन्य वस्तुओं के प्रति भी होती हैं। और उनमें से कुछ इस लोक और परलोक में सुखी जीवन के लिए उपयोगी हैं। शंकर ने मोक्षेतर मूल्यों को “अभ्युदय” नाम दिया है। वे मोक्ष को अपवर्ग या निःश्रेयश कहने के साथ भोग एवं अभ्युदय को ही पुरुषार्थ मानते हैं—“*भोगोपवर्गो पुरुषार्थो*”।

अतः हम कह सकते हैं कि अद्वैत वेदान्त के मूल्यों को अपना कर मनुष्य सर्वांगीण विकास कर सकता है और सुखी रह सकता है। ♦

राष्ट्र सेवा का अभिप्राय

प्रमोद कुमार बर्णवाल

मैं आप से एक सवाल पूछना चाहता हूँ। कृपया इस पर विचार करें। मेरा सवाल है—आपके लिए राष्ट्र सेवा का क्या अभिप्राय है? यह सवाल बहुत ही सरल है, बेहद मामूली है, किन्तु है मार्के का। क्या आपने कभी इस सवाल पर विचार किया है? अगर नहीं किया है तो आइये आज विचार करें।

हम एक खेल खेलते हैं। यह खेल अत्यन्त ही सरल और सहज है, जिसके एक मात्र खिलाड़ी और निर्णयकर्ता आप स्वयं हैं। एक कलम और कागज लें; साथ ही एक घड़ी समय की गणना के लिए। अब कागज पर सबसे पहले यह सवाल अंकित कर लें—मेरे लिये राष्ट्र सेवा का क्या अभिप्राय है? सवाल लिखने के बाद घड़ी देखें और सही समय को कागज के एक ओर अंकित कर लें। अब आप खेल खेलने के लिए तैयार हैं। आपके पास पाँच मिनट हैं। इन पाँच मिनटों में ही आपको इस सवाल का जवाब देना है। याद रखें इस खेल के खिलाड़ी और निर्णयकर्ता आप स्वयं हैं। इसलिए कृपया ईमानदारी बनाये रखें और पाँच मिनट में इस सवाल का यथासम्भव जो भी उचित—अनुचित जवाब आपको मालूम पड़े, उसे लिख डालें।

अब आपका पाँच मिनट बीत चुका है। कृपया लिखना बन्द कर दें। अब आप उधेड़—बुन में होंगे कि आपने जो जवाब लिखा है वह कहाँ तक सही है? मेरे मित्र अगर आप सोच रहे हैं कि मैं आपके इस सवाल का जवाब दूंगा तो मुझे क्षमा करें, क्योंकि इस सवाल का जवाब आपको स्वयं ढूँढना है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस सवाल का जवाब देने में मैं आपकी कुछ सहायता कर सकता हूँ। इसके लिए मैं आपको अपना एक अनुभव सुनाना चाहूँगा। आज से लगभग डेढ़ साल पहले की बात होगी। मैं पटना रेलवे स्टेशन पर ट्रेन का इंतजार कर रहा था। मेरी ट्रेन पटना

रेलवे स्टेशन पर प्लेटफार्म न० आठ पर आने वाली थी। मैं आपको बता दूँ कि यह प्लेटफार्म अभी हाल ही में बनकर तैयार हुआ था और इसलिए आकर्षक मालूम पड़ता था। इतना कि आप इस पर सो जायें। और सच कहता हूँ कि अगर ऐसा सुन्दर फर्श आपके और हमारे घर में बना होता, तो हमलोग इस पर लेटने से गुरेज नहीं करते। किन्तु यह सुन्दर फर्श हमलोगों के घर में नहीं, बल्कि एक रेलवे स्टेशन पर था और इसलिये यहाँ कुछ और ही दृश्य नजर आ रहा था। मैंने देखा कि हमारे ही एक भाई पान की पीक से फर्श को रंगीन बनाने में लगे हुए थे। तो हमारे ही एक अन्य भाई गुटखा खाकर उसकी पीक से फर्श को आकर्षक बनाने में सहयोग दे रहे थे। वहीं दूसरी ओर हमारी ही एक बहन बादाम के छिलके फेंक—फेंककर प्लेटफार्म की सुन्दरता में चार चाँद लगाने में योगदान दे रही थी।

इतनी खूबसूरत फर्श होने के बावजूद लोग इसकी परवाह नहीं कर रहे थे, यह मेरे लिए हतप्रभ और परेशान कर देने वाला विषय था। तभी मेरी नजर प्लेटफार्म पर ही बैठी एक विदेशी महिला पर पड़ी। अलग रंग—रूप होने के कारण वह लोगों के आकर्षण का केन्द्र बनी हुई थी। कुछ भाई लोग तो उस पर छींटाकशी करने से बाज भी नहीं आ रहे थे। किन्तु औरों की हरकतों की परवाह किये बगैर उसने अपने बैग से एक मिक्चर का पैकेट और एक कैची निकाला। तत्पश्चात् उसने कैची से पैकेट का एक कोना काटा। यहाँ तक तो सब ठीक था, किन्तु तब मैं और भी आश्चर्य से भर गया, जब उसने उस कटे हुए भाग को कैची सहित अपने बैग में डाल लिया। फिर वह मिक्चर खाने में मशगूल हो गयी। मिक्चर खाने के बाद वह उठी और एक ओर चल दी। मैं उसकी एक—एक हरकतों को ध्यान से देख रहा था। और तब तो मैं बेहद आश्चर्य चकित रह गया, जब मैंने देखा कि वह महिला उस स्थान पर पहुँची

जहाँ कूड़ा—कचरा फेंका जाता था। उसने मिक्चर का खाली पैकेट और उसका कटा हुआ भाग वहीं डाल दिया।

मित्रो! इस उदाहरण से भी बढ़कर और क्या उदाहरण होगा राष्ट्र सेवा का? हमलोगों में से शायद ही कोई झाड़ू से सड़क, बस स्टैंड, रेलवे स्टेशन, गली—मुहल्ले की सफाई करने के लिए तैयार हो। किन्तु हम इतना तो अवश्य ही कर सकते हैं कि कम—से—कम गन्दगी फैलाने में भागीदारी ना करें। अपना दिल और दिमाग खुला रखें। और इसलिये कि चूँकि कोई अन्य व्यक्ति घूस लेता है या बेईमान है, झूठ बोलता है, जुआ खेलता है, सरे आम महिलाओं, वृद्धों, बच्चों और समाज के निम्न वर्ग के लोगों का अपमान करता है; हम भी वैसा ही करने लगे, यह कहाँ तक सही होगा? इसके बजाय यदि हम ईमानदारी पूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करें, हम विद्यार्थी हैं तो ईमानदारी से मन लगाकर पढ़ाई करें। यदि नौकरी पेशा है तो ईमानदारी से अपना कार्य करें। अगर व्यापारी या उद्योगपति हैं तो ईमानदारी पूर्वक अपना काम करें, यही देश के लिए हमारी सबसे बड़ी सेवा होगी।

आप मेरे अनुभव से परिचित हुए और इस 'आँखन देखी' अनुभव के बाद मैंने जो शिक्षा ग्रहण की वह मैंने आपके सामने रख दिया। अब आते हैं आपके प्रश्नोत्तर पर। क्या आपका उत्तर भी कुछ इसी प्रकार का है या फिर इससे भी बेहतर कोई और ही राय आप देश सेवा के प्रति रखते हैं? एक बार पुनः अपने प्रश्नोत्तर पर विचार करें। आपको सही जवाब मिल जायेगा। ♦

वही कार्य सबसे अच्छा है, जिससे
बहुसंख्यक लोगों को अधिक से
अधिक आनन्द मिल सके।

—फ्रांसिस हचिसन

कितनी प्रार्थना

जब चारों ओर अभिमान का साम्राज्य हो
तो कितनी संवेदना की जरूरत होगी
अभिमान तोड़ने के लिए?

जब चारों ओर अधर्म की जीत हो रही हो
तो कितने बड़े विश्वास की जरूरत होगी
यह एहसास दिलाने के लिए
कि धर्म की विजय होगी?

जब चारों ओर धन की विजय होती हो
तो कितने बड़े बलिदान की आवश्यकता होगी
इस विश्वास को जगाने में
कि धन हारता भी है?

जब चारों ओर हिंसा ही हिंसा हो
तो कितने बुद्ध चाहिए
जिससे अंगुलिमालों का हृदय परिवर्तन हो सके?
जब अधिकांश लोग सत्य का मार्ग छोड़ रहे हों
तो कितने बड़े धैर्य की आवश्यकता होगी
जिससे यह विश्वास बना रहे,
कि सत्य की विजय होगी?

जब चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा हो
तो कितनी तपस्या की आवश्यकता होगी
प्रकाश की एक किरण लाने में?

जब चारों ओर अविश्वास फैल रहा हो
तो कितनी प्रार्थना की आवश्यकता होगी
कि विश्वास पनप सके?

—साभार
(धरती जानती है)से
गिरीश पाण्डेय

मूल्य—शिक्षा की प्रासंगिकता

आद्या शक्ति राय

शिक्षा के क्षेत्र में लम्बे समय से नाना प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं। कभी नकल विरोधी कानून पास किया जाता है, कभी विश्वविद्यालयों के लिए वार्षिक कैलेंडर बनाया जाता है, कभी स्कूल चलो अभियान तो कभी कोचिंग संस्थानों के विरुद्ध अभियान। सबकुछ शिक्षा की गुणवत्ता और प्रसार के लिए किया जा रहा है फिर भी शिक्षा का स्तर नीचे ही गिरता जा रहा है तो क्यों? इस पर गहन चिन्तन—मंथन की आवश्यकता है क्योंकि यह पीढ़ियों के भविष्य से जुड़ा हुआ सवाल है।

शिक्षा वस्तुतः कोई पाठ्यक्रम या डिग्री मात्र नहीं है। शिक्षा की संरचना तो जीविका तक सीमित न होकर जीवन के लक्ष्य को स्पष्ट करने में, जीवन को सार्थक रूप से जीने में है। विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम भी साधन हैं कुछ सीखने के। प्राणी जिस साधन प्रणाली से ज्ञान उपार्जित करता है वह भी समग्र शिक्षा का एक अंग है। व्यक्ति बिना सिखाये भी वातावरण से, परिस्थिति से, अनुभव से, देखकर और सुनकर भी काफी कुछ सीख लेता है। ज्ञान—विज्ञान एवं दर्शन से मन—मस्तिष्क में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न करना ही शिक्षा का अभीष्ट है। *‘नास्ति विद्या समंचक्षु’* विद्या के समान दूसरा नेत्र नहीं है। *‘नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते’* (गीता ४/३८) अर्थात् इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी दूसरा नहीं है। उपर्युक्त सूक्तियां शिक्षा अर्थात् ज्ञान के महत्व को स्पष्ट करती हैं। इसलिए शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिए जो जिम्मेदार, कर्तव्यनिष्ठ और चरित्रवान नागरिकों का निर्माण कर सके। जो शिक्षा ऐसा करने में असक्षम है तो वह शिक्षा अपने आप में अपूर्ण है।

शिक्षा का लक्ष्य व्यक्तित्व के समग्र विकास से है। जब भी शिक्षा में हृदय, हाथ और दिमाग के संतुलन और समन्वय पर प्रश्न उठे हैं। शिक्षा में सुधार के प्रयास भी किये गये हैं। अब चूँकि जीवन की प्रेरणाएँ और प्रभावकारी घटक बदल रहे हैं, मानवीय व्यक्तित्व के घटक भी बदलने की अपेक्षा रखते हैं। हम सभी अनुभव कर रहे हैं कि व्यक्ति के

निर्माण में कहीं कोई कमी आती जा रही है।

व्यक्ति के निर्माण से अर्थ है उसका मनोवैज्ञानिक संगठन और यह संगठन है उसके मूल्यों का ढाँचा। हमलोग अनुभव करते हैं कि आज मनुष्य के व्यक्तिगत या सामूहिक व्यवहारों में सुसम्बद्धता और सामन्जस्य नहीं दिखाई देता। कभी—कभी तो शिक्षित व्यक्ति भी आदिम व्यवहार करते देखे जाते हैं। इससे अनुमान होता है कि हम जीवन—मूल्यों के संकट से ग्रस्त हैं।

मूल्य सामाजिक जीवन प्रणाली में से निकले कुछ व्यवहार—मानक हैं, जो व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और समष्टि के बीच, व्यवहार और समायोजन के प्रयोजनों से कुछ नकार, कुछ विश्वास और कुछ धारणाओं से बनते हैं। मूल्य युग—परीक्षित होते हैं। उनके पीछे एक लम्बा इतिहास, लम्बा प्रयोग और गहरा चिन्तन तथा अनुभव होता है। ये नियंत्रक, संचेतक और दिशा बोधक होते हैं। ये व्यक्ति को आन्तरिक शक्ति और संहति प्रदान करते हैं और उसके जीवन—दर्शन का निर्माण करते हैं।

किसी समर्थ व्यक्तित्व का आधार सशक्त मूल्य ढाँचा होता है। वही नैतिकता के नाम से भी जाना जाता है। यह आधार संस्कृति, परम्परा, धर्म, सामाजिक संहति और उनके घात—प्रतिघात से विकसित होता है। इतना ही नहीं किसी राष्ट्र अथवा समाज या व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी सम्पन्नता (धन वैभव एवं सम्पदाओं) से नहीं होता बल्कि उसका सच्चा मूल्यांकन उसके व्यक्तित्व एवं जीवन मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है। किसी व्यक्ति के मूल्य यह प्रदर्शित करते हैं कि वह व्यक्ति समाज, देश एवं स्वयं के लिये कितना मूल्यवान है। व्यक्ति की गुणात्मकता उसके विचारों, भावनाओं एवं कार्यों पर निर्भर करती है। अतः व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति के विचारों, भावनाओं एवं कार्यों का विकास आवश्यक है और मानवीय विकास के लिए मानवीय मूल्यों का विकास आवश्यक है।

मूल्य संकट की वर्तमान समस्या के समाधान व

मूल्यनिष्ठ सामाजिक, व्यक्तिगत व्यवस्था के निर्माण के लिए आज एक प्रभावी मूल्य—शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। वर्तमान शिक्षा पद्धति में मूल्य—शिक्षा को कैसे समाहित किया जाय? या कैसे जोड़ा जाय? इस पर देश में कोई आम सहमति नहीं बन पायी है। सम्प्रति यह विचार क्षुद्र दलगत राजनीति के झगड़ों में उलझ गया है। पिछले वर्ष मार्क्सवादियों द्वारा राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन० सी० ई० आर० टी०) की नई पाठ्य चर्या पर इतना बवेला खड़ा किया गया कि इस सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय को हस्तक्षेप करना पड़ा। मार्क्सवादियों ने सर्वाधिक—आपत्ति 'मूल्यों की शिक्षा' पर ही उठाई। पाठ्यचर्या के पहले खण्ड (१.४.७) में 'मूल्य विकास के लिए शिक्षा' का वर्णन है। इस पर तीखे विरोध को ध्यान में रखते हुए—न्यायाधीशों ने इस पूरे अंश को निर्णय में उद्धृत किया। ताकि मूल्यों (नीति, चरित्र) की शिक्षा पर उनके फैसले को समझा जा सके, लेकिन भारत के सेक्यूलर—वामपंथी सामान्य लोग नहीं हैं। वे सदा ठीक इन्हीं बातों को 'भगवाकरण', 'राजनीति प्रेरित' या 'संदेहास्पद उद्देश्य' से लिखा बताते हैं, जबकि यह वे बातें हैं जो एस० बी० चव्हाण समिति की रिपोर्ट में भी लगभग हू—ब—हू हैं। यह समिति संसद ने १९९६ में शिक्षा में सुधार पर विचार करने के लिए गठन की थी। इसने पिछली राधाकृष्णन समिति, कोठारी समिति, राममूर्ति समिति, केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की समिति और मूल्योन्मुख शिक्षा के लिए योजना आयोग के कोर ग्रुप की रिपोर्टों का भी अध्ययन किया। इन सभी ने शिक्षा को तत्काल मूल्योन्मुख बनाने की आवश्यकता पर बल दिया था। संसद ने १९९९ में एस० बी० चव्हाण समिति की रिपोर्ट को निर्विरोध स्वीकार किया।

मूल्यों की शिक्षा के सन्दर्भ में चव्हाण समिति की रिपोर्ट की मुख्य बातें निम्न हैं—

१. भारत के ताने—बाने में मूल्यों का युगों—पुराना स्थान रहा है। हाल में यहाँ विज्ञान और तकनीक में काफी प्रगति हुई। किन्तु समाज में मूल्यों का भारी क्षरण हुआ है। हमारी नई पीढ़ी पश्चिमी संस्कृति के नकारात्मक पक्षों से प्रभावित होकर चौराहे पर दिशाहीन होकर खड़ी है।

२. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सर्वतोमुखी विकास है—उसका

बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक और नैतिक विकास। बच्चों के चरित्र निर्माण के लिए उनके मस्तिष्क, हृदय और हाथ तीनों को आकृष्ट करना चाहिए ताकि वे जान सकें कि क्या अच्छा है?

३. इस समिति ने शिक्षा की मूल्योन्मुखता पर विचार करने के लिए देश के जाने—माने शिक्षा शास्त्रियों, राज्य सरकारों, सरकारी संस्थाओं एवं गैर सरकारी संगठनों के साथ भी विमर्श किया। पता चला कि लोग हर स्तर पर चरित्र के प्रति चिंतित हैं।

४. यह महसूस किया गया कि ऐतिहासिक, भौगोलिक और सामाजिक विभिन्नताओं के बावजूद कुछ सामान्य तत्व हैं जो पूरे देश को जोड़ते हैं। इन्हें हमारे बच्चों को सिखाया जाना चाहिए।

५. प्राचीन गुरुकुलों में विद्यार्थी के चरित्र निर्माण पर ही मुख्य बल दिया जाता था। आज स्कूलों से शुरु होकर उच्चतर तकनीकी कॉलेजों तक में मूल्यों को नहीं, बल्कि सिर्फ तकनीकी हुनर प्राप्त करने पर जोर है। शिक्षा केवल सूचना आधारित जानकारी देने का लक्ष्य रखती है और विद्यार्थी को संपूर्ण मनुष्य और समाज का उपयोगी सदस्य बनाने को पूरी तरह उपेक्षित कर दिया गया है।

६. सत्य, धर्म, शांति, प्रेम और अहिंसा सार्वभौमिक रूप से बुनियादी मूल्य हैं। यही पाँच मूल्य वह आधारशिला है जिस पर शिक्षा कार्यक्रम तैयार किया जा सकता है।

७. बच्चे के जीवन में प्राथमिक विद्यालय ही वह समय है जब मूल्यों की शिक्षा का बीज सूक्ष्म रूप में बोया जा सकता है। उस समय मस्तिष्क बहुत ग्रहणशील होता है। यदि स्कूल में समर्पित शिक्षकों के हाथों इस बीज को पोषण मिले, यदि वे बच्चे के स्कूली जीवन में उचित अवधि में मूल्यों की शिक्षा देते रहें, तो कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण का आधा काम हो गया।

चव्हाण समिति रिपोर्ट के इन सात बिंदुओं को उद्धृत कर उच्चतम न्यायालय ने विद्यालयों में मूल्यों की शिक्षा की आवश्यकता पर अपना निर्णय दिया। इस सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय का यह अंश सर्वाधिक महत्वपूर्ण है 'इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि पिछले

पाँच दशकों में हर स्तर पर सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का निरंतर ह्रास हुआ और स्वार्थपरता में वृद्धि हुई। मूल्यों पर आधारित सामाजिक प्रणाली की पूरी उपेक्षा करते हुए हम भौतिकवादी समाज में बदलते जा रहे हैं। जिस समाज में धन, सत्ता और पद के लिए सामाजिक और नैतिक मूल्य निरंतर गायब होते जा रहे हों—क्या वहाँ शुरु से ही एक ठोस सामाजिक आधार नहीं होना चाहिए ताकि आदमी वयस्क होकर हर तरह से उग्रता, कुविचार, हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टाचार और शोषण के खिलाफ संघर्ष कर सके? स्वभावतः इसका उत्तर होगा—हाँ।”

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उच्चतम न्यायालय ने एन० सी० ई० आर० टी० की नई पाठ्यचर्या के मूल्यों की शिक्षा संबंधी अंश को भारतीय संविधान की धारा ५१ (ए) के अनुरूप बताया, जहाँ नागरिकों के बुनियादी कर्तव्यों का उल्लेख है। पिछले पाँच दशक में लोगों के बीच सभी मूल्यों में गिरावट आई है। विभिन्न स्तरों पर सौहार्द्र और भाईचारे में कमी हुई, राजनीतिक उद्देश्यों और अन्य कारणों से हिंसा बढ़ी, जंगलों, झीलों का नाश होता रहा और मनुष्यों समेत प्राणिमात्र के प्रति करुणा घटती गई है। आखिर “ऐसा क्यों है—? विशेषज्ञों को इस पर विचार करना चाहिए। शायद सभी धर्मों के मूलतत्त्व बुनियादी कर्तव्यों का लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं” इस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने स्वयं मूल्यों की शिक्षा सम्बन्धी अंश को दोषपूर्ण मानने की जगह एक बहुत ही जरूरी कदम बताया।

इससे स्पष्ट होता है कि मूल्य—शिक्षा की प्रासंगिकता निर्विवाद रूप से सदैव रही है और रहेगी। और क्यों नहीं? शिक्षा ही तो सम्पूर्ण मानव यात्रा को दिशा प्रदान करती है।

महान् दार्शनिक एवं चिन्तक प्लेटो के अनुसार ‘शिक्षा नये समाज की रचना का समाज के नव-निर्माण का’ सर्वश्रेष्ठ साधन है। शिक्षा जीवन का समूचा दृष्टिकोण बदलकर बुराई की जड़ पर प्रहार करने और जीवन यापन के गलत तौर—तरीकों में सुधार करने की चेष्टा है। प्लेटो के इस कथन से भी यही आशय निकलता है कि शिक्षा ही मानव और समाज के स्वरूप का निर्धारण

करती है। इसी सन्दर्भ में हम भारतीय मनीषियों के भी दृष्टिकोण का उल्लेख करना चाहेंगे—

स्वामी विवेकानंद जी की दृष्टि में ‘शिक्षा वह नहीं है जो व्यक्ति सीखता है बल्कि वह क्या बनता है, वही शिक्षा है।’ महात्मा गाँधी के विचारों में — “हृदय की शिक्षा अथवा नैतिकशिक्षा प्रदान करना ही शिक्षा का प्रधान कार्य है और इसी में शिक्षा की सार्थकता है। यदि हम व्यक्ति का चरित्र उन्नत करने में सफल हो जाते हैं तो समाज स्वतः ही सुधर जायेगा।” चूँकि समस्त सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक व्यवस्थायें मनुष्य के द्वारा संचालित होती हैं और यदि मनुष्य नैतिकता के द्वारा संचालित हो, तो सभी व्यवस्थायें भी अवश्य ही नैतिक होंगी। इसलिए युगों—युगों से शिक्षा पर मनीषियों का ज्यादा जोर रहा। चाहे रामायण काल रहा हो या महाभारत काल या वर्तमानकाल, इन सभी कालों में गुरुकुल की महत्ता रही है, रहेगी। इन कालों में राजा व प्रजा दोनों को ही राजधर्म, समाज धर्म, नैतिक आचरण की शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। इनके अनुरूप जीवनयापन न करने पर कठोर दण्ड व्यवस्था भी थी। जब—जब शिक्षा मानव निर्माण के उद्देश्य से च्युत होकर अर्थार्जन, भौतिक समृद्धि हेतु एक साधन के रूप में प्रयोग की गयी, सामाजिक व्यवस्था और मानव जीवन का पतन होना प्रारम्भ हुआ। और इस गिरावट को रोकने के लिए दो स्तरों पर प्रयास आवश्यक है—पहला कठोर दण्ड—व्यवस्था और दूसरा मूल्य शिक्षा का अनिवार्य रूप में पठन—पाठन।

यदि मूल्य शिक्षा की प्रासंगिकता की ओर समय रहते ध्यान नहीं दिया गया तो समस्त व्यवस्थायें अराजकता, लूट—पाट, घोटाले—शोषण का पर्याय बनकर रह जायेंगी। व्यक्ति—व्यक्ति के बीच स्वार्थपूर्ण रिश्ते ही सम्बन्धों का आधार होंगे। प्रकृति और ईश्वरीय सत्ता से मनुष्य बहुत दूर जा खड़ा होगा। और इसका परिणाम क्या होगा? कल्पनातीत है। ♦

दहेज और समाज

राम नरेश 'विशाल'

वर्तमान में दहेज रूपी दानव के कारण जहाँ नेहा पाठक जैसी अनेक नवयुवतियों के अरमानों का गला सात फेरे लेने से पहले ही घुट जा रहे हैं, वहीं किसी तरह से माँ-बाप द्वारा दहेज की व्यवस्था कर देने और सात फेरे ले लेने के बाद विनीता सिंह जैसी गर्भवती नवविवाहिता की ससुराल वालों द्वारा नृशंस हत्या कर दी जा रही है। इस तरह की घटनायें समय-समय पर समाज में घटित होती रहती हैं। फिर भी आज का मानव समाज चिर निद्रा में सो रहा है। उसकी नींद नहीं खुल रही है। शायद युगों तक सोने वाला कुम्भकरण बन गया है समाज।

सदियों से चली आ रही इस सामाजिक कुप्रथा के उन्मूलन के लिए भारत सरकार द्वारा वर्ष १९६१ में दहेज प्रतिबन्ध अधिनियम पारित किया जा चुका है, जिसके अन्तर्गत दहेज लेना, देना या माँगना या दहेज के लिए अभिप्रेरित करना भी अपराध है। दहेज प्रतिबन्ध नियम वर्ष १९८४ को पारित करके उपहार के नाम पर दहेज लेने वालों की प्रवृत्ति को रोका गया। भारतीय दण्ड संहिता में ऐसे भी विशेष प्रावधान किये गये हैं कि—वधू का अपने पति के घर में विशेष स्थान है, उसके प्रति क्रूरता व उत्पीड़न का व्यवहार करने वाले अपराधी हैं एवं कठोर सजा के पात्र हैं। ऐसे ही अनेक अन्य कानून भी बनाये गये हैं, जो वर्तमान सरकारी भरीनरी में अपना दमखम खो चुके हैं। क्योंकि यह प्रक्रिया इतने स्तरों में बँटी है जिसके पूरे होने में वर्षों लग जाते हैं। ऐसे में न तो अपराधी को सजा मिलती है और न ही न्याय की गुहार करने वाले को न्याय।

आज के लोग दहेज को प्रतिष्ठा का विषय मान चुके हैं। लड़की या कन्या पक्ष की ओर से अधिकाधिक देने की कोशिश की जाती है और लड़के या वर पक्ष द्वारा अधिकाधिक लेने की। मनुष्य में अजीब—सी तृष्णा का वास हो चुका है, वह भौतिकता की अन्धी दौड़ में तन-मन-धन से भाग ले रहा है। आज के समाज को मोटे तौर पर दो वर्गों

में विभाजित कर सकते हैं। एक धनाढ्य और गरीब वर्ग जो किसी तरह से अपना जीवन यापन कर रहा है। समाज का धनाढ्य वर्ग आसानी से कुछ भी ले दे सकता है और प्रतिष्ठा का पात्र भी बनता है। वहीं दूसरी ओर गरीब तबका है, जिसके पास रोटी कपड़ा और मकान आदि जीवन की आधारभूत वस्तुएँ नहीं हैं; फिर भी वह सामाजिक प्रतिष्ठा पाने की लालसा में कर्ज लेकर दहेज की माँग की पूर्ति करता है। जिसकी भरपाई वह जिन्दगी भर करता रहता है। भरपाई न कर पाने की स्थिति में वह उसकी आगामी पीढ़ी से वसूल किया जाता है। यानी कि ऋण पुष्टैनी बन जाता है।

समाज में एक विकट त्रासदी देखने को मिलती है। वह है माँ-बाप के दो रूपों का मिलना। एक वे जो वर पक्ष के होते हैं, दूसरे वे जो कन्या पक्ष के होते हैं। जब माँ-बाप वर पक्ष के होते हैं तब वह कन्या पक्ष से मोटी रकम वसूल करते हैं, वहीं माँ-बाप कन्या पक्ष के होते हैं तो रकम न दे पाने की असमर्थता जताते हैं। इस परिस्थिति में माँ-बाप की स्थिति चाहे जो भी हो परन्तु हमारे समाज की नवयुवतियाँ प्रथमतः कुण्ठा की शिकार व अन्ततः विनीता सिंह जैसी हत्या का शिकार होती हैं। वर पक्ष की तरफ से दहेज की वसूली के लिए तर्क दिये जाते हैं और कन्या पक्ष द्वारा उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है। कन्या पक्ष चाहे कुछ भी करे उसे दहेज की रकम देने के लिए बाध्य होना ही पड़ता है। दहेज की माँग की पूर्ति न कर पाने की स्थिति में नवविवाहिताओं पर तरह-तरह के अत्याचार किये जाते हैं। उन्हें प्रताड़ित किया जाता है। इन सभी प्रताड़नाओं से पीड़ित होने और लोकलाज वश नवविवाहिताएँ आत्महत्या जैसी सामाजिक बुराई को अपनाती हैं। कभी सल्फास की गोलियाँ खाकर अपनी इहलीला को समाप्त कर लेती हैं। अगर अपनी विवेकशीलता को अपना कर वह ऐसा नहीं करती तो उन्हें ससुराल वालों द्वारा जला दिया जाता है, उसकी हत्या कर दी जाती है। या कन्या पक्ष सजग होता है तो तलाक का सामना

करना पड़ता है।

समय की माँग यह है कि हमारा समाज दहेज लेने और देने के दुष्परिणामों को जाने। किसी भी व्यक्ति विशेष से लिये गये धन के जरिये कोई कब तक अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। भले ही इससे क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है किन्तु ऐसा करने से मन में तृष्णा और लालसा का वास हो जाता है। ऐसे में हम जहाँ एक ओर अपने मान-सम्मान को खोते हैं वहीं दूसरी ओर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पाने पर तनाव के शिकार हो जाते हैं। जीवन में जो सुख मिलना होता है उसे भी समाज खो बैठा है। दहेज लेने की या देने की प्रक्रिया को हम 'चार दिन की चाँदनी फिर अन्धेरी रात' से परिभाषित कर सकते हैं। जो हमारे मान-सम्मान को कमतर करने की प्रक्रिया है। दूसरी तरफ हमें जिनकी दुआएँ मिलनी चाहिए हम उनकी बददुआएँ पाते हैं। अतः इनसे बचने के लिए हमें दहेज रहित विवाह को प्रोत्साहन देना होगा। इससे समाज को मान-सम्मान और प्रतिष्ठा की प्राप्ति होगी।

समाज में विभिन्न रिश्तों में आयी दरारों का एक विशिष्ट कारक दानव रूपी दहेज है। चाहे वह रिश्ता भाई-बहन का हो, भाई-भाई का हो, माँ-बाप का हो पति-पत्नी का हो, इन सभी रिश्तों के मध्य बनी दूरी में दहेज कहीं न कहीं अपनी भूमिका को निभा रहा है। यह ऐसी आँधली है जिसमें सम्पूर्ण समाज कूड़े-कचरे की तरह उड़ चला है और रास्ते में पड़ने वाली सुन्दर-सी-सुन्दर इमारत को भी अपनी चपेट में ले चुका है। हमारे भारत वर्ष में अनेक सामाजिक संस्थाएँ दहेज जैसी सामाजिक बुराई के प्रति लोगों में जागरूकता लाने का प्रयास कर रही हैं। लेकिन वे सफल नहीं हो पा रही हैं। ऐसी सामाजिक संस्थाओं की बात मानने के बजाय लोग, टी० वी० चैनलों द्वारा प्रसारित धार्मिक प्रवचनों को ध्यान से सुनते हैं। धार्मिक प्रवचनों में धर्माचार्य कहते हैं कि हमें किसी को सताना नहीं चाहिए। दया, करुणा, सहिष्णुता, ईमानदारी, सच्चाई, आदि तमाम शिक्षाएँ धर्माचार्य देते हैं, बदले में लोग भगवान् के नाम पर धन वर्षा करते हैं।

दूसरी ओर लोग दहेज लेना कदापि नहीं भूलते हैं। सच्चाई यही है कि प्रत्येक मनुष्य में परमात्मा का निवास है। यह तो कण-कण व्यापी है। यह तो वही बात हुई 'कस्तुरी कुण्डल बसे, मृग दूँडे वन माहि।' हमारा समाज दहेज लेकर भगवान् का अपमान करता है, क्योंकि इससे हम किसी-न-किसी को चोट पहुँचाते हैं। फिर दया, करुणा, ईमानदारी, सच्चाई ये सभी हमसे परे हो जाते हैं। भगवान् का अपमान करके भगवान् को पाना किसी तरह से सम्भव नहीं हो सकता है।

सामाजिक संस्थाएँ जो दहेज जैसी अन्य कुप्रथाओं के निवारण में लगी हुई हैं उन्हें और भी सक्रियता से काम करने की आवश्यकता है। धार्मिक मिशनरियाँ जो समाज को बरगलाने का कार्य कर रहे हैं, अच्छा होगा यदि वे दहेज उन्मूलन हेतु कार्य करें। इससे समाज में उनकी सार्थकता सिद्ध होगी। समाज के युवावर्ग जिनकी आड़ में इस खेल को खेला जा रहा है, उन्हें विवेकानुसार कार्य करने की आवश्यकता है। आज युवावर्ग जग जाये तो स्वाभाविक है कि दहेज का समूल नाश हो जायेगा। युवा समाज के लिए यह कहना कदापि अनुचित न होगा—“तुम जागोगे तो जग जायेगा; तुम्हीं से भारत स्वर्ग बनेगा”।

हम और हमारा समाज किसी का अनुसरण करने में बहुत आगे है, बशर्ते उसमें कुछ नयापन हो। दहेज एक परम्परागत सामाजिक बुराई है। इसका विरोध बहुत लोग करते हैं। परन्तु बहुत कम ऐसे लोग हैं जो दहेज रहित वैवाहिक कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देते हैं। बहुत से ऐसे लोग हैं जो दिल से दहेज का विरोध करते हैं, किन्तु सामाजिक संकोचवश वह इसका विरोध नहीं कर पाते हैं। ऐसे लोगों का स्वागत निम्न पंक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए—‘अन्धकार को क्यों धिक्कारें; नन्हा सा दीप जलाएँ’। ऐसा अनुसरण ही हमारे समाज को नई दिशा देगा। इससे समाज से दहेज अवश्य दूर होगा साथ ही साथ नये समाज की स्थापना भी होगी। ऐसा विश्वास कर लेना अतिशयोक्ति नहीं होगा। आइए हम सब मिलकर इस सामाजिक बुराई को दूर करने का संकल्प लें। ♦

संवाद का महत्त्व

कु० नमिता

मित्रो, मैं जिस विषय की बात करने जा रही हूँ, यदि इसे विषय न कह कर 'जिन्दगी का विस्तार' कहा जाये तो ज्यादा उपयुक्त होगा, हाँलाकि जिन्दगी के इस विस्तार से हमारा रिश्ता लगभग टूट चुका है और इसका आभास भी हम सभी को है, पर हमने कभी कारण में जाने का प्रयास नहीं किया है।

मैं बात कर रही हूँ 'संवाद' की, जिसे आम बोल-चाल की भाषा में 'बातचीत' कहा जाता है। संवाद या बातचीत से तात्पर्य बेकार की गप्पे मारने से नहीं है, बल्कि कुछ सार्थक उद्देश्यों से है; जिसमें हम अपने को किसी के सामने पूरी तरह व्यक्त करते हैं, किसी को पूरी तरह सुनते हैं या फिर किसी से अपनी बात मनवाने के लिए या किसी का विरोध करने के लिए भी सकारात्मक व मैत्री-भाव के साथ अपनी बात रखते हैं।

आज के मशीनीयुग में हम स्वयं को मशीन बनाते जा रहे हैं और 'संवाद' को अपनी आवश्यकताओं के पायदान में नीचे की ओर धकेलते जा रहे हैं तथा स्वयं को अन्दर ही अन्दर खोखला करते जा रहे हैं।

यद्यपि कुछ समय पूर्व तक मैं स्वयं इसकी महत्ता से अनभिज्ञ थी, पर आज यह मेरे व्यक्तित्व का मजबूत पक्ष बन चुका है। इसने मेरे जीवन को एक नया विस्तार दिया क्योंकि इस 'संवाद' के कारण ही काफी लोग मुझसे जुड़ते गये। और यह निश्चय है कि यदि आप के चाहने वालों की संख्या अधिक होगी तो आपको 'आनन्द और अपनत्व' की प्राप्ति होगी।

लिखने को तो बहुत कुछ लिखा जाता है, पर मैं सिर्फ लेख लिखने के लिए ही ये सारी बातें नहीं लिख रही हूँ, यद्यपि मेरे पास सुगठित शब्दों का भण्डार नहीं है जिससे मैं सुन्दर लेख लिख सकूँ। मैं अपने अनुभवों के कारण ही उपर्युक्त बातें लिख पाने में सक्षम हो सकी, जिनमें से कुछ आप लोगों के साथ बाँटना चाहूँगी।

शुरूआत घर से किया, कुछ समय पहले तक मेरे संवाद का लहजा काफी टेढ़ा था। मैं किसी को समझने के लिए तैयार नहीं होती थी। अपनी अधिकतर इच्छाओं की पूर्ति जिद्द के आधार पर करती थी, पर आज सही संवाद के कारण परिवार में

अच्छा सामंजस्य है।

इसी तरह एक बार मैं अपनी मम्मी के साथ बस में सफर कर रही थी, बस अभी चली नहीं थी, मेरी सीट के कुछ आगे, एक व्यक्ति सिगरेट पी रहा था, जिसकी गंध से मुझे परेशानी हो रही थी। देखने में वह व्यक्ति काफी रौबदार लग रहा था। मैंने सकारात्मक सोच के साथ कहा—भइया यदि आप सिगरेट बाहर पी लें तो ज्यादा अच्छा होगा, वह बाहर तो नहीं गया, परन्तु अपनी सिगरेट जरूर फेंक दिया।

इसी तरह कुछ दिन पहले काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मालवीय भवन में एक कार्यक्रम के दौरान एक लड़के द्वारा किये गये अवांछनीय व्यवहार से मुझे काफी ठेस पहुँची। व्याख्यान खत्म होने के बाद मैंने उसे रोका और अपने लिए कोई सम्बोधन मांगा, तो उसने मुझे बहन कहा। मैंने कहा—इसी बहन के नाते कहूँगी कि चंचलता व जिन्दादिली अच्छी बात है, पर हर चीज की अपनी जगह होती है। इस वक्त तुम जिस स्थान पर खड़े हो उसकी अपनी गरिमा है। अकेले में विचार करना कि तुमने क्या किया? उसने अपनी गलती स्वीकार की। तीन दिनों बाद मैंने देखा कि वह आगे से दूसरी पंक्ति में बैठकर ध्यानपूर्वक व्याख्यान सुन रहा था। मुझे अत्यन्त ही आनन्द का अनुभव हुआ। व्याख्यान खत्म होने पर मैंने उसे धन्यवाद कहा। हमने एक-दूसरे से काफी बातें की। उसने कहा— आज तक किसी ने मुझे मेरी गलती का एहसास नहीं दिलाया था।

इस तरह के कई अनुभव मेरे साथ हुए हैं। वैसे जहाँ तक मेरा मानना है हमलोगों में से कुछ लोग संवाद या बातचीत की पहल तो करना चाहते हैं पर उनके जेहन में नकारात्मकता बसी होती है, उन्हें लगता है अगला मेरी बात को समझेगा या नहीं। यदि वे किसी को उसकी गलती के लिए मना करना भी चाहते हैं तो उनके मन में डर समाया रहता है कि कहीं अगला 'ना' न कह दे। कुछ लोगों का संकोची स्वभाव भी उन्हें अपने दायरे से बाहर निकलने नहीं देता।

तो मित्रो, एक बार आप भी कोशिश करें, मेरी तरह, पर हाँ सकारात्मक सोच व मैत्री-भाव के साथ। •

नैतिक—मूल्यों की प्रासंगिकता

प्रो० छाया राय

जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है इसमें मैंने प्राचीन भारतीय मूल्य—प्रणाली के संदर्भ में नैतिक मूल्य अथवा धर्म के स्वरूप का निरूपण, उसके विभिन्न अर्थों अथवा आयामों को स्पष्ट करते हुए, करने का प्रयास किया है। साथ ही, यह भी दर्शाने का प्रयत्न किया है कि प्रायः प्रत्येक पारम्परिक अर्थ में ये न केवल भारतीय समाज, अपितु सम्पूर्ण मानव—समाज एवं प्रत्येक व्यक्ति के लिए आज भी सार्थक मूल्य हैं।

मूल्य सम्बन्धी यह विवेचन मैंने भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही किया है, क्योंकि मेरे मतानुसार, किसी भी सांस्कृतिक परंपरा में मान्य किसी मूल्य के मूलाधार व यथार्थ स्वरूप को समझने की यही सर्वोत्तम पद्धति है। एक बार सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में मूल्यों के स्वरूप को समझ लेने के पश्चात् पश्चिमी या आधुनिक शब्दावली में उनका अनुवाद एवं व्याख्या करना उतना भ्रामक नहीं है, जितनी पहले ही, आधुनिक अथवा पश्चिमी शब्दावली में उनकी व्याख्या। यदि यह पद्धति न अपनाये, तो व्याख्या या तो विकृत या कृत्रिम होगी अथवा सतही।

प्रत्येक संस्कृति की विशिष्ट पहचान उसमें अन्तर्निहित एक विशिष्ट जीवन—दर्शन के कारण होती है, जो स्वानुरूप एक विशिष्ट मूल्य—प्रणाली को समाहित किये हुए रहता है। इसकी तथ्यात्मक पुष्टि आध्यात्मिक जीवन—दर्शन तथा भौतिकतावादी जीवन—दर्शन की मूल्य—प्रणालियों में पाये जाने वाले अन्तर से होती है। प्रत्येक मूल्य—प्रणाली का निर्माण विभिन्न प्रकार के मूल्यों यथा, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक मूल्यों आदि से होता है, किन्तु किसी भी मूल्य—प्रणाली में सभी प्रकार के मूल्य “समस्तरीय” नहीं होते। उनमें “एक महत्त्व—अनुक्रम” अथवा “वरीयता—क्रम” होता है। मूल्य सम्बन्धी असहमति या मतभेद प्रायः मूल्यों की स्वीकृति—अस्वीकृति से उतने सम्बन्धित नहीं

होते, जितने उसके वरीयता—क्रम से सम्बन्धित होते हैं, और ये मतभेद अन्ततः जीवनदर्शन सम्बन्धी मतभेद पर आधृत होते हैं। इस तरह जीवनदर्शन की भिन्नता से मूल्य—क्रम में भी भिन्नता स्वाभाविक है।

भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक दर्शन प्रधान संस्कृति है इसी दर्शनाधार पर यहाँ लोकाचार न केवल निर्धारित होता आया है, अपितु उसका मूल्यांकन भी होता रहा है। आध्यात्मिक संस्कृति होने के कारण यहाँ आत्म से अनात्म को गौण माना गया, जबकि भौतिकतावादी संस्कृति में आत्मन् की अपेक्षा भौतिक जगत् को अधिक महत्त्व दिया जाता है। भारत में सम्पूर्ण विश्व का केन्द्र आत्मा को स्वीकार करने के कारण, उसी की अनुभूति या प्राप्ति को जीवन की सफलता व पूर्णता माना गया। इस प्रकार नैतिकता सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिये आध्यात्मिक आधार स्वीकार किया गया, क्योंकि यह सत्य है कि अपने वास्तविक स्वरूप को जाने बिना कर्तव्य—निर्णय असम्भव है। यही कारण है कि उपनिषदों का शाश्वत आदेश “आत्मानं विद्धि” है। माना गया कि कर्तव्याकर्तव्य का अंतिम निर्णय “आत्म—कल्याण” की दृष्टि से ही होना चाहिए। सच पूछा जाय, तो भारतीय मूल्य—प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य अर्थात् जैविक सत्ता (Biological Entity) को “नर” अर्थात् नैतिक प्राणी (Moral Being) के स्तर तक उठाना ही नहीं है, वरन् सर्वोच्च लक्ष्य नर को “पुरुष” (Spiritual Being) के रूप में अपना आत्मज्ञान अथवा आत्मोपलब्धि कराना है।

आजकल जिन अधिनीतिशास्त्री समस्याओं पर विचार—विमर्श हो रहा है, उनमें से एक है—हमें नैतिक क्यों होना चाहिए? अर्थात् हमें नैतिक कर्म क्यों करना चाहिए? भारतीय परम्परा में इन प्रश्नों का उत्तर दर्शन देता आया है, या कहना चाहिए कि विभिन्न दर्शन देते आये हैं। सामान्य

उत्तर तो यही है कि मनुष्य को मनुष्य बनने, एवं बने रहने के लिये नैतिक होना चाहिए। (जिसे पारम्परिक भारतीय नीतिमीमांसा “मनुष्य” से “नर” बनना कहती है), पर भारतीय धर्म्य दार्शनिक परम्परा का उत्तर केवल इतना ही नहीं है। यहाँ उत्तर की जड़ “पुरुष” या चेतन की अवधारणा, उत्तर का तना सामाजिक सम्बन्धों का सम्यक् निर्वाह, और फल धर्मसम्मत धनोपार्जन एवं वैध कामनाओं की प्राप्ति है। दो सौ वर्ष पूर्व जर्मन दार्शनिक कांट ने उपर्युक्त प्रश्न की निरर्थकता बतलाते हुए, अपनी लघु पुस्तक ‘नैतिक आदर्शों की तत्त्व मीमांसा का मूलधार’ में लिखा है कि यह प्रश्न पूछना ही भूर्खतापूर्ण है कि हमें नैतिक क्यों होना चाहिए, क्योंकि उसने मनुष्य को बौद्धिक प्राणी और बौद्धिक प्राणी को नैतिक प्राणी के रूप में परिभाषित किया था। भारत में उक्त प्रश्न को निरर्थक कह कर टाला नहीं गया, अपितु धर्म की अवधारणा के अन्तर्गत उसका उत्तर दिया गया। किसी वस्तु की विधायक आन्तरिक वृत्ति को धर्म कहा गया और बतलाया गया कि प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप या व्यक्तित्व जिस वृत्ति पर निर्भर होता है, वही उसका धर्म कहलाता है। इस धर्म की कमी से उस पदार्थ का क्षय होता है, और वृद्धि से उस पदार्थ की वृद्धि। इस दृष्टि से मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व या मानवता है। इसके क्षय से मनुष्य पूँछविहीन पशु हो जाता है, और वृद्धि से दिव्यत्व की ओर अग्रसर होकर “महात्मा” हो जाता है। संक्षेप में कहें, तो कह सकते हैं कि सदाचार या नैतिकता ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। कांट ने प्रश्न की निरर्थकता के साथ-साथ दिये जाने वाले उत्तर की निरर्थकता बतलाते हुए कहा कि यह उत्तर देना कि स्वर्ग-प्राप्ति के लिए नैतिक होना चाहिए और भी भूर्खतापूर्ण है, किन्तु भारतीय परंपरा में किसी भी प्रश्न को निरर्थक या भूर्खतापूर्ण कहकर टाला नहीं गया, पारंपरिक दार्शनिक संदर्भ में उसका उत्तर देने का प्रयास किया गया। स्पष्ट कहा गया कि इस जीवन के अभ्युदय और भावी जीवन में निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए नैतिक होना चाहिए। भारतीय नीतिशास्त्रियों द्वारा वर्गीकृत नैतिक आचारों के आधारों

पर दृष्टिपात करने से भी उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर प्राप्त होता है (सर्वज्ञात है कि नैतिक आचार या कर्तव्य के लिए संस्कृत में “धर्म” शब्द ही प्रयुक्त होता रहा है)। धर्म का प्रथम उद्देश्य है—व्यक्ति का स्वगत परिष्कार और विकास। नैतिक जीवन का द्वितीय लक्ष्य है, व्यक्ति का समाज के साथ मधुर संबंध अथवा सामाजिक अन्तः संबंधों का निर्देशन, और तीसरा लक्ष्य है व्यक्ति का पारमार्थिक कल्याण। इस तरह ये तीन मूलधार हैं, यद्यपि धर्मशास्त्रियों, नैयायिकों, मीमांसकों आदि ने इन आधारों पर अपनी-अपनी तरह से आचार या कर्तव्य-मीमांसा प्रस्तुत की है।

भारतीय परंपरा में नीतिशास्त्र को विशुद्ध नीतिशास्त्र अथवा “अधिनीतिशास्त्र” की अपेक्षा “हिताहित-विवेचनशास्त्र” समझा गया, भले ही जी०ई० मूर की दृष्टि में ये (Casuistry) या द्वितीय स्तर का नीतिशास्त्र है। भारत में इसे “हिताहित-विवेचनशास्त्र” ही माना गया, जिसका उद्देश्य मनुष्य को शुभाशुभ, उचित-अनुचित, कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराना है। नीतिशास्त्र की भारतीय अवधारणा शुक्रनीति सार (१.५) में दी गयी परिभाषा से स्पष्ट होती है, जिनमें उपयोगितावाद से लेकर परमार्थ तक का समावेश है। परिभाषा है—

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।

धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥

अर्थात् नीतिशास्त्र सबके जीने का साधन, लोकस्थिति बनाये रखनेवाला, धर्म, अर्थ, काम का मूल और मोक्षप्रद है। वस्तुतः पूर्णरूप में नीतिशास्त्र वह शास्त्र है जो जीवन मूल्यों या मानव मूल्यों की व्याख्या करता है। आज तक मूल्य की जो विभिन्न परिभाषायें दी जाती रही हैं, उन सभी का भारतीय मूल्यप्रणाली में समावेश है। प्रायः मूल्य को जीवन-रक्षा एवं विकास के साधक, इच्छापूर्ति के साधन तथा आत्मोपलब्धि करवाने वाले के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है।

नैतिकता या नीति की प्रधानता के कारण ही भारत में समाज से संबंधित सभी शास्त्रों की व्याख्या नीति के ही

आधार पर की गयी है। जैसे, विधि या आधुनिक शब्दावली में कानून को “समाज के सदस्यों द्वारा अपेक्षित न्यूनतम नैतिक आचरण” के रूप में परिभाषित किया गया। यह माना गया कि नीति से विच्छिन्न विधिक धारणायें या नियम अन्याय व अत्याचार के जनक होते हैं। “न्याय” नामक नैतिक-सामाजिक मूल्य को विधिशास्त्र का आधार घोषित किया गया। वस्तुतः नैतिकता या धर्म से रहित कानून का अस्तित्व ही नहीं माना गया। क्या आज हमें अपनी न्यायपालिका से यही जनापेक्षा नहीं है?

यही स्थिति राजनीति की थी। शास्त्रों के अनुसार राजनीति न केवल धर्म या नीतिशास्त्र पर अवलम्बित मानी गयी, अपितु उसका अभिन्न अंग घोषित की गयी। यही कारण है कि जिसे हम आज राजनीति कहते हैं, उसे शास्त्रों में “राजधर्म” सम्बोधित किया गया। राज्य का उद्देश्य नीति के आधार पर सामाजिक स्थिति बनाये रखना था। वस्तुतः राज्य का आधार, उसका उद्देश्य व उपयोगिता सभी नैतिक माने गये थे। भारतीय धर्मशास्त्र या समाजशास्त्र में राजनीति अर्थात् राज्य के कर्तव्यों, प्रशासन और व्यवहार को, तथा विधिसम्मत जीवन-पद्धति को धर्म के अन्तर्गत ही रखा गया, अतः उसे राजधर्म कहा गया। राजनीति को समाज-कल्याण व समाज-सेवा का साधन माना गया, अतः राजनैतिक मूल्यों को साधनमूल्यों की श्रेणी में ही रखा गया। आज राजनीति का लक्ष्य समाजकल्याण से हटकर वैयक्तिक या दलगत सत्ता व शक्ति की प्राप्ति हो गया है, जिससे भारतीय समाज विखण्डित और प्रजातंत्र कलंकित हो रहा है। आज कुछ लोगों के लिए राजनीति जीविकानिर्वाह का साधन या व्यवसाय, तो कुछ के लिए जीवन-लक्ष्य बन चुकी है। और जब साधनमूल्य, साध्यमूल्य का स्थान ले लेते हैं, तो जो विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं, आज भारतीय समाज उन्हें ही झेल रहा है। सेवा का स्थान शासन ने ले लिया है और अतिशय शासन की वृत्ति ने स्वातंत्र्य के मूल्य को नकार कर सत्तालोलुप नेतागिरि को जन्म दिया, लोकसंग्रह के भावात्मकमूल्य के स्थान पर लोकप्रवंचना को स्थापित

किया है। आज आवश्यकता राजनीति को नैतिक मूल्यों की आधारशिला पर पुनः प्रतिष्ठित करने की है।

जिस प्रकार राजनीति को स्वतंत्र शास्त्र नहीं माना गया, उसी प्रकार अर्थशास्त्र भी स्वतंत्र शास्त्र नहीं माना गया। यह सत्य है कि चतुष्कोटि पुरुषार्थों में “अर्थ” की गणना की गई है, किन्तु उसे स्वतंत्र मूल्य नहीं माना गया। साधनों की उत्पत्ति, वितरण एवं उपभोग आदि सभी आर्थिक क्रियाओं को नीति से मर्यादित किया गया। मार्क्स के समान आर्थिक मूल्यों को जीवन के नैतिक मूल्यों का निर्धारक नहीं माना गया। इसके विपरित, आर्थिक मूल्यों को नैतिक मूल्यों से गौण दर्जा दिया गया। मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद का व्यापक प्रभाव आधुनिक भारतीय राजनीति व शासकीय नीतियों पर पड़ा, तथा शासकीय नीतियों के माध्यम से जनसाधारण पर भी परिलक्षित हो रहा है। भारतीय मनीषियों ने मूल्यों का वरीयता-क्रम स्वैच्छिक आधार पर निर्धारित नहीं किया था; वह “मानव-स्वरूप” की गहन गंभीर व्याख्या पर, वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के बुद्धिसंगत अनुक्रम पर आधृत था। ऐसा न होता, तो “अर्थ” को कदापि पुरुषार्थ की श्रेणी में न रखा जाता। अर्थ को अपने आप में साध्य न मानकर, कामनाओं की तुष्टि का साधन माना गया, और इतना ही नहीं, इस साधन की शुद्धता के लिये धनोपार्जन पर धर्म अथवा नैतिकता का अंकुश भी लगाया गया अर्थात् केवल उचित तरीके से अर्जित धन को वैध घोषित किया गया। इस दृष्टि से तस्करी, रिस्वतखोरी एवं अन्य भ्रष्ट तरीके से कमाये धन को ही अवैध घोषित कर, दंड का विधान किया गया। क्या आज भी यह व्यवस्था प्रासंगिक नहीं है? अर्थ को आवश्यकता से अधिक महत्व देने के ही कुपरिणाम हैं—दहेज—प्रताड़ना, दहेज—मृत्यु, चोरी डकैती, तस्करी आदि आपराधिक घटनायें।

सर्वप्रथम हमें मनुस्मृति में नैतिक आचारों का वर्गीकरण तीन खण्डों—सामान्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म तथा अपद धर्म—में उपलब्ध होता है। अन्य मूल्य—तंत्र के समान नैतिक मूल्य—तंत्र में भी मूल्यों में अनुक्रम होता है, अर्थात्

कुछ नैतिक मूल्य आधारभूत होते हैं और कुछ द्वितीय स्तर के। सामान्य धर्म वे सद्गुण हैं, जो आधारभूत हैं और वर्णाश्रम धर्म द्वितीय स्तर के मूल्य हैं। सामान्य धर्म के अंतर्गत उन सद्गुणों की सविस्तार व्याख्या की गई है जिन्हें सार्वभौम, सार्वजनिक व देशकालातीत घोषित किया गया, क्योंकि इनका पालन सामाजिक स्तर (वर्ण), जीवन की अवस्थाओं (आश्रम), धार्मिक विश्वास (संप्रदाय), लिंग (स्त्री या पुरुष) तथा आयु आदि से निरपेक्ष सभी मनुष्यों का कर्तव्य है। ये वे सद्गुण हैं, जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं। मनु ने ऐसे १० सद्गुणों की गणना की है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सद्गुण केवल ये दस हैं, तथापि यदि इन दस पर ही हम ध्यान केन्द्रित करें, तो पाते हैं कि आज भी उपयोगी हैं। ये हैं १. धृति या धैर्य, जिसका अर्थ है प्रतिकूल परिस्थितियों में दृढ़ता २. क्षमा ३. दम ४. अस्तेय ५. शौच ६. इन्द्रियनिग्रह ७. धी अर्थात् बुद्धिमत्ता या विवेक ८. विद्या (शास्त्रीय अथवा आध्यात्मिक ज्ञान) ९. सत्य (वास्तविक ज्ञानानुसार कथन और आचरण) तथा १०. अक्रोध। सद्गुणों के उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार यह भारतीय मान्यता है कि सामाजिक परिवेश तथा भौतिक परिस्थितियों से घिरा रहने के बावजूद, मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र रहकर जीवनयापन कर सकता है, और चूँकि वह स्वतंत्र है अतः निजी कर्मों के लिये उत्तरदायी है। इसीलिये समझाया गया कि आत्मा ही अपना मित्र और आत्मा ही अपना शत्रु है। इस तरह प्रथम कर्तव्य अपने ही प्रति है।

यदि उपर्युक्त सद्गुणों पर ध्यान केन्द्रित करें, तो पाते हैं कि ये समस्त सद्गुण तनावरहित शांत जीवन के मंत्र हैं। आज इनके अभाव में मानसिक तनावों से युक्त तेज रफ्तार वाली जो जिंदगी हम जी रहे हैं वह धीरे-धीरे हमें मनोरोगों, मनोग्रन्थियों और मनोशारीरिक रोगों का शिकार बना रही है। अधैर्य अर्थात् प्रतिकूल परिस्थितियों में उत्तेजित होकर हत्यायें करने अथवा निराश होकर आत्महत्या कर लेने की खबरें आये दिन अखबारों में पढ़ने को मिलती हैं। अस्तेय के विस्मृत मूल्य के कारण अधिकाधिक व्यक्ति चोरी

व डकैती, राष्ट्रीय संपत्ति के गबन को व्यवसाय बनाते जा रहे हैं। स्थिति इतनी शोचनीय हो चुकी है कि बड़े चोर को चोर तक कहने का साहस समाज नहीं कर पा रहा है और निरंकुश चोर निर्लज्ज होकर घूम रहे हैं। विवेक व विद्या की अवस्था यह है कि औपचारिक शिक्षा डिग्रीधारियों को न तो विवेकवान् बना रही है, न ही विद्यावान्। इन्द्रियनिग्रह के मूल्य की उपभोक्तावादी पाश्चात्य संस्कृति ने ध्वजियां उड़ा दी हैं। दूरदर्शन जैसा सशक्त सरकारी संचार माध्यम भी पारंपरिक मूल्यों की अवहेलना में अपना योगदान दे रहा है, जिसका परिणाम “खाओ, पीओ, मौज करो” के जीवनदर्शन को प्रस्तुत करनेवाले विज्ञापन हैं। विज्ञापनों में खाद्य पदार्थों व सुखसुविधाओं की सामग्री का विज्ञापन का प्रतिशत सर्वाधिक है। कई विज्ञापन तो स्वास्थ्य के नियमों के विरुद्ध भी हैं। शौच या पवित्रता के सद्गुण की व्याख्या ही बदल गई है। आज इसका तात्पर्य चित्तशुद्धि या मन की पवित्रता न रहकर, शारीरिक स्वच्छता हो गया है, इसीलिये संचार माध्यमों में कपड़े धोने व नहाने के सुगंधित साबुनों, शैम्पुओं, टूथपेस्टों आदि के विज्ञापन दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। काश, कोई कंपनी ऐसा साबुन निर्मित कर सके, जो हमारे कलुषित होते जा रहे मनोमस्तिष्क को स्वच्छ व सुगंधित कर सके। शारीरिक स्वच्छता मानसिक पवित्रता का पर्याय न तो है, और न होना चाहिए। आंतरिक पवित्रता सद्वृत्तियों व सात्त्विक बुद्धि की देन है, जिसकी आज महती आवश्यकता है। यही दुर्दशा सत्य की है। कभी अज्ञान, तो कभी स्वार्थजन्य चाटुकारिता और कभी भय व आतंक के कारण हम झूठ का सहारा लेते हैं।

प्रशस्तपाद ने न्याय-वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत १४ सामान्य धर्मों अथवा सद्गुणों का उल्लेख किया है। उनमें से कुछ सद्गुणों की गणना मनुस्मृति में भी प्राप्त है, वे हैं श्रद्धा (धर्म में आस्था व विश्वास) २. मनःप्रसाद (धार्मिक कृत्य में प्रसन्नता) ३. अहिंसा ४. भूतहितत्व ५. सत्यवचन ६. अस्तेय ७. ब्रम्हचर्य ८. उद्देश्य की शुद्धि (अनुपधा) ९. क्रोध-वर्जन १०. अभिभोचन (शारीरिक शुद्धि) ११.

आहार १२. देव भक्ति १३. व्रत १४. अप्रमाद।

ज्ञातव्य है कि इन सामान्य धर्मों या कर्तव्यों का केवल बाह्य रूप से पालन करना पर्याप्त नहीं है, इनका प्रेरणास्त्रोत आंतरिक होना चाहिए। आज हमारे चिंतन, कथन व कर्म के मध्य जो खाई है, वह हमारे विखंडित व्यक्तित्व की परिचायक है। सद्गुणों का अनुसरण बाह्य आडंबर न बने, इसके लिए आंतरिक प्रतिबद्धता या संकल्प का होना अनिवार्य है। सद्गुण चरित्र की उत्कृष्टता के प्रतीक और व्यक्ति के नैतिक विकास के सूचक होते हैं। भारतीय नीति के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो हमें पातंजलिकृत योगसूत्र में जिन पांच सद्गुणों का वर्णन प्राप्त होता है, वे हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यह वर्गीकरण अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ। बौद्ध, जैन, मनु आधुनिक युग में गाँधी, विनोबा आदि ने इन सद्गुणों को स्वीकार किया। इसका कारण यह था कि यह वर्गीकरण आधारभूत मानवीय मूल्यों पर बल देता है, जो आज भी प्रासंगिक है। गीता में दैवी संपत्ति के नाम से सद्गुणों का वर्णन किया गया है, जिसके अन्तर्गत निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, यम, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, सरलता, त्याग, अनिंदा, दया, निर्लोभ आदि गुणों का वर्णन है। इसी तरह महाभारत के भीष्म व शांतिपर्व में सद्गुणों की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध है। उपर्युक्त सद्गुण प्रेरित कर्मों अर्थात् सत्कर्मों के विरुद्ध आचरण करनेवालों को अधर्मी व आसुरी प्रकृतिवाले कहकर उनकी निंदा की गई है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, धर्म शब्द का प्रयोग गुण या सारतत्त्व, सद्गुण, नियम, कर्तव्य, अनुशासन आदि अनेक अर्थों में किया गया है। प्रो० राजबली पाण्डेय ने व्यक्तित्व विकास के संदर्भ में इसकी सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की है। वे लिखते हैं “*धर्म सन्मार्ग का उपदेश तथा उन्नति का नियम है। संयम इस उपदेश या नियम का पालन है। संस्कार इन विभिन्न प्रकार के संयमों का सामूहिक फल है, और समस्त संस्कारों का अंतिम परिणाम है—व्यक्तित्व का विकास*”।

आज स्मृतियों में वर्णित साधारण धर्म या विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों में विवेचित सद्गुणों के पुनरावलोकन, मूल्यांकन एवं युगानुरूप व्याख्या की महती अपेक्षा है, क्योंकि इनमें अधिकांश उन आधारभूत नैतिक मूल्यों के प्रतिपादक हैं, जो आज भी प्रासंगिक हैं।

भारतीय परंपरा में विशिष्ट धर्मों का भी विशद विवेचन उपलब्ध है, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और धर्म लोक का धारक, रक्षक व पोषक है। भारतीय परंपरा में मनुष्यों की प्रकृति के आधार पर वर्णधर्म अर्थात् विभिन्न सामाजिक वर्गों के कर्तव्यों की व्याख्या की गयी है। वस्तुतः समस्त कर्तव्यों का विवेचन वर्णाश्रम धर्म के आधार पर किया गया है। समाज में व्यक्ति का स्थान अथवा उसका पद और तदनुसार कर्तव्यों का निर्धारण उसके गुण, कर्म व स्वभाव के वैज्ञानिक आधार पर किया गया, जिन्हें वर्ण व वर्णधर्म नाम दिया गया। वैयक्तिक जीवन के क्रमिक विकास व संस्काराधार पर चार आश्रमों व तदनुसार आश्रमधर्मों का विवेचन किया गया। इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के कर्तव्य बताये गये, तो ब्रम्हचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासी के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया, जिनकी यहां पुनरावृत्ति व्यर्थ का पिष्टपोषण होगी। इनका विशद विवेचन स्मृतियों, गीता, कामन्दकीय नीतिसार आदि नीतिग्रन्थों में उपलब्ध है। यहां केवल यह विचारणीय है कि वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक कर्तव्यों के विवेचन की सुदीर्घ परंपरा के होते हुए भी, आज औसत भारतीय कर्तव्य—विमुख क्यों हो गया? आवश्यक नहीं है कि हम परंपरागत इन चार वर्णों और चार आश्रमों को ही स्वीकार करें, पर इनके माध्यम से जो कर्तव्यमीमांसा प्रस्तुत की गई है, क्या आज भी समाज के सुसंचालन एवं सुव्यवस्था के लिए वह अपेक्षित नहीं है? आज हम में से अधिकांश भारतीय अपने-अपने कर्तव्यों से विमुख होकर, केवल अधिकारों की पूर्ति की मांग कर रहे हैं जिसका कुपरिणाम समाज के प्रत्येक क्षेत्र में अव्यवस्था, अपेक्षित विकास का अभाव और सामाजिक संबंधों की विसंगतियों में दृष्टिगोचर हो रहा है।

वर्णव्यवस्था को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, पर क्या आज भी उसके आधार की इस वैज्ञानिकता को अस्वीकार किया जा सकता है कि स्वभाव, गुण व कर्म अर्थात् योग्यतानुसार ही व्यक्ति को सामाजिक, प्रशासकीय व अन्य पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिए अन्यथा (अर्थात् अयोग्य की नियुक्ति से) समाज के सुसंचालन में बाधा, प्रगति में अवरोध, तथा समाज में परस्पर आक्रोश आदि उपस्थित होते हैं।

पारम्परिक भारतीय मूल्य—प्रणाली के संबंध में ज्ञातव्य है कि इसमें आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक मूल्यों को पूर्णतः पृथक्-पृथक् करना असंभव है। उदाहरणार्थ, यदि धर्म नामक मूल्य को लें। वस्तुतः मूल्य—प्रणाली की यह विशेषता भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक व सर्वांगीण दृष्टि का फल है।

भारतीय मूल्यों के संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि चूँकि भारतीय समाज एक पारम्परिक समाज है, अतः यहाँ मूल्य परंपरामानित होने पर ही स्वीकार किये जाते हैं, अर्थात् जब तक नवीन मूल्यों का परंपरा से सामंजस्य स्थापित नहीं हो जाता, तब तक नवीन मूल्य जनसामान्य में प्रतिष्ठा नहीं पाते। उदाहरणार्थ, धर्मनिरपेक्षता के संवैधानिक मूल्य को लें जो केवल सैद्धान्तिक होकर रह गया है। न शासन, न राजनेता, न जनता किसी ने भी इसे व्यवहार व आचरण में मान्यता दी, क्योंकि भारत सदैव एक धर्मप्रधान देश रहा है। यहाँ तो राजनीति भी धर्माश्रित रही। धर्मप्रधान होने के कारण यहाँ सर्वधर्मसम्भाव, धार्मिक सहिष्णुता, धार्मिक सहअस्तित्व, धार्मिक उदारता जैसे मूल्य व्यक्ति व समाज के आचरण को निर्धारित करते रहे। बहुधर्मी भारतीय समाज में उपर्युक्त विधानात्मक मूल्यों ने सकारात्मक भूमिका निभायी, और आज भी ये उपयोगी हैं, अतः धर्मनिरपेक्षता का निषेधात्मक मूल्य संविधान में चाहे किसी भी सद्उद्देश्य से अपनाया गया हो, पारम्परिक भारतीय समाज इसे वर्षों बाद भी स्वीकार नहीं कर पाया है।

भारत में परम्परा के साथ—साथ परिवर्तन के सत्य

को भी स्वीकार किया गया। इतना ही नहीं स्वयं स्मृतिकारों ने युगधर्म, युगहास, आपद्धर्म, अधिकार—भेद व शक्तिभेद के आधार पर परिवर्तन के सत्य की व्याख्या की। ऋषिमनीषियों ने बदलती परिस्थितियों के साथ जीवनमूल्यों का पुनः पुनः विश्लेषण एवं विवेचन कर नियमों में परिवर्तन किये एवं अपवादों का उल्लेख किया है। जैसे, सत्यवचन व सत्यनिष्ठा को मूल्य माना गया, किन्तु आपात्काल में अर्थात् आत्मरक्षार्थ अथवा अन्य मनुष्य के रक्षार्थ झूठ बोलना अनुचित नहीं माना गया। इस तरह आपद् धर्म का विधान किया। इतना अवश्य है कि शाश्वत व आधारभूत मूल्यों की महत्ता का विस्मरण न हो, अतः आपद् धर्म के साथ—साथ प्रायश्चित्त की व्यवस्था भी की गयी।

परिवर्तन के सत्य को स्वीकार करके ही हम भारत के सन्दर्भ में “मूल्यों के विघटन” या “नैतिक संकट” का उल्लेख कर सकते हैं। आज जिस मूल्य—विघटन से हम चिंतित हैं, वह इसलिये उपस्थित हुआ है कि परंपरागत निम्नस्तरीय जीवनमूल्यों को उच्चस्तरीय माना जा रहा है; साधन मूल्यों को साध्य मूल्य समझा जा रहा है। उदाहरणार्थ, आज भारतीय समाज धनोपाार्जन व कामतुष्टि को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान रहा है। मूल्यों के वरीयताक्रम में यह परिवर्तन औद्योगिक पश्चिमी संस्कृति की देन है, जिसके भौतिकतावादी उपभोग प्रधान जीवन—दर्शन ने भारतीय मानस को गहराई से प्रभावित किया है।

क्या यह विचारणीय नहीं है कि ऐसी समृद्ध मूल्यप्रणाली के रहते हम आयातित मूल्यप्रणाली को क्यों स्वीकार कर बैठे? इस प्रश्न का उत्तर दो दृष्टिकोणों से दिया जा सकता है। पारम्परिक शास्त्रीय दृष्टिकोण से तथा विश्व इतिहास के दृष्टिकोण से। शास्त्रीय उत्तर यह है कि यह कलियुग है, अतः युगानुसार मूल्य—प्रणाली में परिवर्तन स्वाभाविक ही है। कलियुग का स्वरूप ही कुछ ऐसा है। आश्चर्य यह जानकर होता है कि गरुड़पुराण में कलियुग का जो वर्णन (युगधर्म, ११७ अ) किया गया है, वह २०वीं शताब्दी में भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व में घट रही

घटनाओं, स्वीकृत मूल्यों, सामाजिक सम्बन्धों व प्रवृत्तियों का यथाप्रणाली वर्णन है।

मेरे मतानुसार पारम्परिक मूल्यप्रणाली के विस्थापन की प्रक्रिया में जिन घटकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उनमें से प्रथम है पराधीन भारत पर थोपी गई ब्रिटिश शिक्षा—पद्धति। द्वितीय है, संचार तथा परिवहन के साधनों के कारण पश्चिमी उपभोगकतावादी संस्कृति का भारत में प्रवेश। सुविधा की दृष्टि से तृतीय घटक के रूप में उन तीन महानुभावों के प्रभाव का उल्लेख अनुचित न होगा, जिनकी खोजों व सिद्धान्तों ने विश्व—मानस को गहराई से प्रभावित किया। ये हैं — डार्विन, मार्क्स और फ्रायड।

भारत में अंग्रेजों के पूर्व भी विदेशी व्यापारी आये व गये, कुछ यहाँ रह भी गये। अंग्रेजों के पूर्व भी लूटने व शासन करने के उद्देश्य से विदेशी आक्रांताओं का आवागमन होता रहा, पर जितनी क्षति हमें ब्रिटिश शासन ने पहुँचाई, उतनी सम्भवतः किसी अन्य ने नहीं पहुँचाई। ब्रिटिश शासन ने बड़ी धूर्तता व चतुराई से हमारे पारंपरिक जीवन—दर्शन व सांस्कृतिक मूल्यों को विस्मृति के गर्त में दफनाने का प्रयास किया, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपनी शिक्षाप्रणाली को अस्त्र बनाया। अपने लंबे शासनकाल में वे अपने इस प्रयास में सफल रहे, और एक ऐसी पीढ़ी तैयार कर गये जो अपनी पारम्परिक मूल्य—प्रणाली से नितान्त अपरिचित, और आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी संस्कृति की अन्धभक्त है।

ऐसा नहीं है कि हमारे देश में जीवन एवं शास्त्रों को नीतिनिरपेक्ष बनाने के प्रयास न किये गये हों। चार्वाक दर्शन या लोकायतिक सुखवाद, विशुद्ध बुद्धिवाद, विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण ऐसे ही कुछ प्रयास रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राजनीति के नाम पर “राजधर्म” को, और उसके अप्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष प्रभाव से समाज व जीवन को नीतिनिरपेक्ष बनाने का जो प्रयास हुआ, उसने अर्द्धशताब्दी से भी कम समय में लोकतन्त्र को भ्रष्टतन्त्र बना दिया। नीति—निरपेक्षता का सिद्धान्त तो चाणक्य जैसे व्यावहारिक

राजनीतिज्ञ ने भी नहीं माना था।

आज वैज्ञानिकवाद, भौतिकवाद, बुद्धिवाद और सत्तोन्मुख राजनीति आदि ने हमारी भारतीय मूल्यप्रणाली को पूर्णतः झकझोर दिया है। पश्चिमी वैज्ञानिक संस्कृति, भारतीय संस्थाओं, आध्यात्मिक मूल्यों, परम्पराओं एवं विश्वासों को चुनौती दे रही है। इस पश्चिमी सांस्कृतिक आक्रमण के कारण भारतीय समाज में दो प्रकार की प्रतिक्रियायें परिलक्षित हुईं। प्रथम, नवीनता से दिग्भ्रान्त होकर उसका अन्धानुकरण। द्वितीय, पूर्णतः अतीतोन्मुख हो जाना, अर्थात् अतीत का अन्धानुकरण, जिसकी एक अभिव्यक्ति धार्मिक पुनरुत्थानवाद के रूप में हम सभी देख रहे हैं। किसी भी विकासशील पारम्परिक समाज के लिये ये दोनों ही स्थितियाँ घातक हैं। इनसे बचने का सर्वोत्तम उपाय पारम्परिक भारतीय मूल्य प्रणाली का पुनरावलोकन तथा उसके मूल्यों की युगानुरूप पुनर्व्याख्या कर, भारतीय मूल्यप्रणाली की प्रासंगिकता को सिद्ध करना है। हर्ष का विषय है कि अब प्रबुद्ध भारतीयों ने यह प्रयास प्रारम्भ कर दिया है। इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द द्वारा रचित ग्रन्थ “भारतीय संस्कृति के आधार” सदैव एक दीपस्तम्भ सिद्ध होता रहेगा।

डार्विन के जैवकीय विकासवाद की नवीनता ने विश्वमानस को आकर्षित व प्रभावित किया, जैवकीय सिद्धान्त होने के बावजूद इसने दार्शनिक चिंतन, नीतिशास्त्र आदि को प्रभावित किया। अचेतन रूप से हम जैवकीय मूल्यों की महत्ता स्वीकार करने लगे और जैवकीय विकास के सिद्धान्त — योग्यतम की उत्तरजीविता तथा प्राकृतिक चयन की सहायता से नैतिक, सामाजिक, धार्मिक विकास आदि की व्याख्या करने लगे। इन सिद्धान्तों को महत्त्व देने से संघर्ष, गलाकाट प्रतिस्पर्धा, साम्प्रदायिक संघर्ष, ईर्ष्या—द्वेष आदि विध्वंसक प्रवृत्तियाँ बढ़ी, जिन्होंने मानवीय संवेदनशीलता को आघात पहुँचाया। मनुष्य के अस्तित्व की व्याख्या जैव विकास के आधार पर की जाने लगी। उसके सिद्धान्त की तथ्यपरकता, प्रयोगात्मक सिद्धि व वैज्ञानिकता ने पश्चिमी

जीवनदृष्टि और फिर पश्चिमी सांस्कृतिक आदान-प्रदान के माध्यम से भारतीय चिंतन को प्रभावित किया, फलस्वरूप हम भी “संघर्ष” को जीवन का मूलमन्त्र मान बैठे। इस तरह हमारा “समन्वय” का सांस्कृतिक मूल्य विस्थापित हुआ। जैव मूल्यों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने के कारण पारम्परिक सहयोग, प्रेम, समानता, समन्वय व न्याय जैसे सामाजिक मूल्यों की अवहेलना होने लगी, और अब स्थिति दिनोंदिन विस्फोटक होती जा रही है। यहाँ राधाकृष्णन् की वह उक्ति स्मरणीय है कि जब ऐप मनुष्य बन सकता है, तो क्या मनुष्य देवता नहीं बन सकता? जैवकीय विकास जीव या प्राणी के रूप में मनुष्य के आगमन तक की ही कथा है। सांस्कृतिक विकास जीव से मनुष्य और मनुष्य से दिव्य या पूर्ण बनने की यात्रा है।

कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने आर्थिक मूल्यों की सर्वोच्चता की शिक्षा देकर, हमारे पारम्परिक आध्यात्मिक जीवनदर्शन को भौतिकतावादी जीवनदर्शन से स्थानापन्न कर, हमें अर्थलोलुप बना दिया। फलस्वरूप हमने मशीनी औद्योगीकरण अपनाया, जिससे भारतीय गृह एवं लघु उद्योग टूटे और उनमें लगे लोग बेरोजगार हो गये। मार्क्सवादी सिद्धान्त के विपरीत हमारे देश में पूँजीपतियों और सर्वहारा का वर्ग तैयार हो गया, जिनके संघर्ष व निहित स्वार्थ समाज व राष्ट्र, दोनों को ही हानि पहुँचा रहे हैं। मार्क्स की विचारधारा का ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि “आर्थिक विकास” को ही सम्पूर्ण विकास का मापदण्ड माना जाने लगा, और आज देशों को इसी आधार पर अविकसित, विकासशील व विकसित आदि की श्रेणियों में रखा जाता है। विकास की यह विदेशी परिभाषा क्या वस्तुतः विश्वशान्ति अथवा मानव-कल्याण का आधार बन सकती है? वस्तुतः आन्तरिक या मानवीय विकास के बिना बाह्य विकास न केवल निरर्थक है, अपितु घातक भी है, क्योंकि ऐसी स्थिति में साध्य (मानव) को साधन बना दिया जाता है। भारतीय मूल्यप्रणाली में आर्थिक मूल्य को स्वीकार न किया गया हो, ऐसा नहीं है; पर इसे साधन मूल्य का ही दर्जा दिया गया,

साध्य नहीं माना गया। इतना ही नहीं साधन मूल्य मानने के बावजूद, इस पर धर्म या नैतिकता के अंकुश को स्वीकार किया गया।

विश्वमानस को प्रभावित करने वाला तीसरा व्यक्ति सिगमंड फ्रायड है, जिसने काम की शब्दावली में मानवीय व्यवहार व जीवन की व्याख्या कर, कामनाओं की भूमिका व तुष्टि को इतना अधिक महत्त्व दिया कि जनमानस की दृष्टि कामनाओं की तुष्टि अथवा सुखवाद पर केन्द्रित हो गई। भारतीय मूल्यप्रणाली में काम को तृतीय पुरुषार्थ घोषित किया गया है। इतना ही नहीं, इसे साध्य मूल्य की श्रेणी प्रदान की गई है, तथापि स्वीकृति केवल धर्मसम्मत काम को दी गई अर्थात् उचित व समाजसम्मत तरीके से ही कामनाओं की पूर्ति को वैध माना गया है। इस तरह मनोवैज्ञानिक मूल्यों को साध्य तो माना गया, पर सर्वोच्च साध्य मोक्ष या आध्यात्मिक आत्मिक मूल्य ही घोषित किये गये। मनोवैज्ञानिक मूल्यों की अवहेलना भारतीय परम्परा कैसे कर सकती है, जो गृहस्थाश्रम को न केवल स्वीकार करती है, अपितु अन्य आश्रमों का आश्रय भी घोषित करती है; किन्तु धर्मप्रधान भारतीय संस्कृति कामनाओं की तुष्टि पर धर्म या नैतिकता के नियंत्रण की समर्थक रही है। इसलिये कि इस अंकुश के बिना न तो व्यक्ति मनुष्य रह जायेगा और न ही समाज में सुव्यवस्था सम्भव होगी। हम इस सर्वोच्च लक्ष्य को विस्मृत कर बैठे, और इस तरह उच्चतर लक्ष्य की विहीनता अधिसंख्य भारतीयों को सर्वथा काममय बना रही है। कामनाओं की तुष्टि के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अर्थोपार्जन की ऐसी अन्धी दौड़ में आज हम में से अधिकांश भारतीय सम्मिलित हैं, जिन्हें न तो कामनाओं की वैधता-अवैधता को जाँचने का समय है, न अर्थोपार्जन के उचित-अनुचित तरीकों की चिन्ता। मुझे पुरुषार्थ-चतुष्टय की पृष्ठ भूमि में साधन-साध्य दोनों की शुद्धता या पवित्रता का सिद्धान्त सही प्रतीत होता है, जिसे महात्मा गाँधी ने बारम्बार दोहराया कि अनुचित साधनों से प्राप्त साध्य भी अपवित्र होता है।

पश्चिमी जीवनदर्शन के अनुसरण ने हमारे व्यक्तित्व का केन्द्र ही स्थानान्तरित कर दिया है। आज आध्यात्मिक मूल्य या आत्मा केन्द्र में न रहकर भौतिक मूल्य या इहलौकिक सुखोपभोग केन्द्रस्थ हो रहे हैं। इस तरह पारम्परिक केन्द्रस्थ मूल्य परिधि में ढकेल दिये गये हैं। यह स्थिति आत्म-विघटन की स्थिति है, जो अनेक मनोग्रन्थियों की जनक है। सुप्रसिद्ध मनोविश्लेषक युंग ने भी आत्मा को ही व्यक्तित्व का केन्द्र बतलाया था। उनकी ख्यातिप्राप्त पुस्तक *Modern Man in Search of a Soul* आज उन लोगों के लिये मार्गदर्शक है, जो भौतिक सुख समृद्धि की अन्धी दौड़ में अपनी आत्मा और उसके सद्गुणों एवं सद्वृत्तियों अर्थात् नैतिक मूल्यों को नकार रहे हैं। क्या हमारा ध्यान अमेरिका जैसे समृद्ध देश में मनोचिकित्सा केन्द्रों की बढ़ती संख्या तथा शान्ति की खोज में भारतीय गुरुओं और योगियों की शरण में आये विदेशियों पर नहीं जाता?

मानवीय मूल्यों का कोई भी विवरण व व्याख्या अन्ततः मानव-स्वरूप की व्याख्या पर आश्रित होता है। मानव के यथार्थ स्वरूप की जितनी सम्यक् व्याख्या होगी, मूल्य प्रणाली भी उतनी ही उत्कृष्ट व सर्वांगीण होगी। इस दृष्टि से मानव-स्वरूप की भारतीय व्याख्या एक ऐसी व्याख्या है, जिसे सार्वभौम रूप से स्वीकार किया जा सकता है। संक्षेप में कहें, भारतीय दर्शनानुसार मानव न केवल शरीर, न केवल मन, न केवल प्राण और न केवल बुद्धि है, वरन् वह आत्मन् 'भी' है। इतना ही नहीं तत्त्वतः वह आत्मन् 'ही' है। शरीर, मन, प्राण, बुद्धि आदि उसी की शक्ति से संचालित हैं। पंचकोशों का सिद्धान्त भी इसी सत्य व तथ्य को समझाता है। कोशों के उत्तरोत्तर क्रमानुसार ही मूल्यों का उत्तरोत्तर क्रम होना चाहिए, और इसलिये भारतीय मूल्यप्रणाली में जैवकीय मूल्यों को मनोवैज्ञानिक मूल्यों से, मनोवैज्ञानिक मूल्यों को बौद्धिक या ज्ञानात्मक मूल्यों से और बौद्धिक मूल्यों को आध्यात्मिक मूल्यों से निम्नस्तरीय माना जाता रहा है। इसीलिये मोक्ष या आत्मसाक्षात्कार अथवा आनंद और शान्ति को सर्वोच्च

मूल्य घोषित किया गया। वस्तुतः आत्मा को आधार मानकर चलनेवाली मूल्य प्रणाली ही मानव-कल्याण व विश्व-शान्ति की क्षमता रखती है। संभवतः इसीलिये आत्मस्वरूप के द्रष्टा और उसकी सार्वभौमिकता के ज्ञाता भारतीय ऋषियों ने केवल भारत के लिये नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिये "सर्वे भवन्तु सुखिनः" जैसी प्रार्थनायें और "वसुधैव कुटुम्बकम्" का अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श प्रस्तुत किया। ♦

साभार —

(परामर्श (हिन्दी), खण्ड १४, अंक ३, जून १९९३/
वैशाख-ज्येष्ठ २०४९, पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन)

आज व्यक्ति का माप उसके धन से किया जाता है। वह हमें पाँच करोड़ या दस करोड़ का आदमी दिखाई देने लगता है। क्या धन व्यक्ति का मूल्य आँक सकता है? किसी को करोड़पति कहना उसके सद्गुणों का बखान तो नहीं कहा जा सकता। मानव जीवन का मूल्यांकन धन द्वारा नहीं किया जा सकता।

जब व्यक्ति का न ईश्वर में विश्वास रहता है, न अपनी योग्यता में और न ही समाज कल्याण में तो उसमें असुरक्षा की गहन भावना उत्पन्न होने लगती है। तब उसे लगता है कि धन ही मेरी सुरक्षा कर सकता है। कुछ धनी लोग मित्रवर्ग से भी अपने को असुरक्षित समझते हैं। वे यह तय नहीं कर पाते कि हमारे मित्र सचमुच हमारा हित चाहते हैं या अहित। कुछ समय के लिए धन उनकी सुरक्षा का भ्रम बन जाता है।

—श्री श्री रविशंकर

निंदक नहीं, उत्प्रेरक बनें

डॉ० मीनाक्षी

क्या आपको ऐसा नहीं लगता है कि व्यक्ति पहले से अधिक नकारात्मक हुआ है। छिद्रान्वेषण, निन्दा, चापलूसी आदि विशेषतायें उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण हिस्सा बनती जा रही हैं। भौतिक विकास के साथ-साथ मानवीय स्वभाव का विकास न हो तो सामाजिक व्यवस्था संक्रमण काल से गुजरने लगती है। जहाँ जीवन जीने के लिए अनेक भौतिक सुविधायें तो होती हैं, लेकिन मानवीय सम्बन्धों में उत्साह, प्रेम, सहयोग आदि का अभाव होता है। आज सर्वाधिक जरूरत है सकारात्मक, प्रशंसा एवं मैत्रीपूर्ण वातावरण की। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति सुख-शान्ति एवं समृद्धिपूर्ण जीवन जी सके।

यहाँ मानवीय स्वभाव के एक नकारात्मक पक्ष की चर्चा की जा सकती है, वह है निन्दा। निन्दा का दूसरा अर्थ है आलोचना। जहाँ दो या दो से अधिक लोग मिलते हैं, वहाँ सृजनात्मक बातों की जगह निन्दात्मक बातें ज्यादा ही सुनाई पड़ती हैं। निन्दा की भी आवश्यकता है, लेकिन निन्दा केवल निन्दा के लिए नहीं, अपितु निन्दित व्यक्ति या व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए की जाय। प्रसिद्ध कवि रहीम ने तो यहाँ तक कहा है कि—निन्दक नियरे राखिए...।

मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष चाहे वह व्यक्तिगत जीवन से जुड़ा हो या सार्वजनिक जीवन से; उसमें कुछ न कुछ कमियाँ अवश्य होती हैं और उसे दूर भी किया जाना आवश्यक है, लेकिन निन्दा से नहीं प्रेम से। यहाँ पर इस बात को हम कुछ उदाहरणों द्वारा भली प्रकार से समझ सकते हैं जैसे—विवाहोत्सव। विवाहोत्सव में वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष की निन्दा करना एक कर्तव्य—सा बन चुका है। यह 'निन्दा' चूँकि निन्दा के लिए ही की जाती है, परिणामतः नवागन्तुक पुत्र—वधू स्वजनों की निन्दा सुनते—सुनते अपने नये घर के लोगों के प्रति वह आन्तरिक स्नेह तथा सम्मान नहीं रख पाती, जो सम्मान व स्नेह उसके मन में स्वजनों के प्रति होता है।

एक अन्य उदाहरण उन सार्वजनिक स्थानों का है,

जहाँ पर समाज के भिन्न—भिन्न वर्गों व विचार धाराओं के लोग मिलते जुलते हैं, जैसे—चाय की दुकानें, रेल—बस यात्रा, शादी—समारोह। ऐसे स्थान पर 'टाइम पास' करने के लिए चर्चा का केन्द्र शिक्षा, समाज, राजनीति आदि कुछ भी हो सकते हैं। इनकी चर्चा के प्रकरण शिक्षा व शिक्षकों के गिरते स्तर, लापरवाह माँ—बाप, आवारा बच्चे, भ्रष्ट राजनीति से जुड़े होते हैं। लेकिन ये नहीं जानते कि 'टाइम पास' के उद्देश्य से की गई ये चर्चायें हमारे स्वभाव को कितना नकारात्मक बनाती जा रही हैं।

अतः समाज के ऐसे निन्दारस में संलग्न लोगों से हमारा निवेदन है कि आपकी चर्चा जीवन के चाहे किसी भी पहलू से सम्बन्धित हो, उसमें सकारात्मकता, प्रेरणा, प्रेम एवं प्रोत्साहन का भाव होना चाहिए। जरूरत है कि हम जिन विषयों में निन्दा के लिए स्थान खोज लेते हैं, उन्हीं में प्रशंसा के लिए स्थान खोजें। अपनी चर्चाओं में ऐसे उदाहरणों को स्थान दें, जो हमें सकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान करते हों। इस सन्दर्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र' को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। इस केन्द्र में मानव जीवन के सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए सकारात्मक चर्चायें की जाती हैं। जिसका परिणाम प्रतिभागियों के सकारात्मक जीवन यापन में दिखायी पड़ता है। प्रस्तुत लेख इस केन्द्र के संस्थापक गुरुवर प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी जी के साथ हुई एक चर्चा से प्रेरित होकर लिखा जा रहा है। मैं उन गुरुजन के साथ एक भेंट वार्ता में अपने उस अनुभव को सुना रही थी, जो मेरी पिछली ट्रेन यात्रा में घटा था। मैं जिस ट्रेन से वाराणसी जा रही थी उस ट्रेन में यात्रा कर रहे एक नेत्रहीन बच्चे का सामान किसी यात्री ने चोरी कर लिया था और मैं चोरी करने वाले को कोस रही थी। मेरे नकारात्मक विचारों को सुनकर गुरुवर त्रिपाठी जी ने ऐसे अनेकों उदाहरण बताये, जिनमें कितने ही अक्षम लोगों की मदद कर उन्हें उनके गन्तव्य तक पहुँचाया गया। ♦

सम्मान दें, स्नेह पायें

डॉ० मनीषा शुक्ला

सम्मान जीवन का महत्वपूर्ण पहलू है, जिसकी अधिकतर लोगों द्वारा उपेक्षा कर दी जाती है। यदि आप किसी व्यक्ति का सम्मान नहीं कर सकते, तो आप स्नेह भी नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि जब आप किसी को सम्मान देते हैं तभी सम्मान प्राप्त भी करते हैं।

कबीर ने बड़ी ही सहजता से कहा था कि अगर कोई स्नेह के बारे में नहीं जानता, तो मात्र पोथी पढ़ लेने से विद्वान नहीं बन सकता। ईश्वर ने हमें वाचन शक्ति दी है। यह पूर्ण रूप से हमारे ऊपर निर्भर करता है कि इसका प्रयोग करके हम अपने आस-पास स्वर्ग का निर्माण करते हैं अथवा नरक का।

यह महत्वपूर्ण नहीं कि आप छोटों से व्यवहार कर रहे हैं अथवा ज्येष्ठों से। सामने वाले का सम्मान करना महत्वपूर्ण विषय है। सम्मान देने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि सामने वाले ने जो उक्ति दी उसके विचारों से सहमत ही हुआ जाए। महत्वपूर्ण विषय यह है कि आप सामने वाले का सम्मान इसलिए करें क्योंकि वे ईश्वर के द्वारा निर्मित हैं; वे भी कुछ अनुभव संचित किये हुए हैं जो आपके लिए महत्वपूर्ण साबित हो सकते हैं।

जो आपके बराबर हैं उनका आप बराबरी के कारण सम्मान करें। हमारे समाज में अधिकांश लोग अपने साथी, सहपाठी एवं मित्रों का सम्मान बराबर होने के कारण नहीं करते, परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए, हमें उन्हें भी उतना ही सम्मान देना चाहिए, जितना अपने बड़ों को देते हैं; तभी हमें खुद-ब-खुद स्नेह एवं सम्मान दोनों ही प्राप्त होगा।

जब आप बालक का सम्मान करते हैं तो उसे यह बोध होता है कि वह आपके लिए कितना महत्वपूर्ण है, ऐसा करके आप उसके मूल्य को महसूस कर उसे सम्मान करने की शिक्षा देते हैं।

यदि आपके अन्दर अपनी श्रेष्ठता का अहंकार

होगा तो आपको सामने वाले को सम्मान देने में कठिनाई होगी। आप स्वयं को श्रेष्ठ अनुभव करेंगे एवं अन्य को लघु मानेंगे। आप स्वयं को श्रेष्ठ अनुभव करेंगे तो आपकी विचारधारा निम्न स्तरीय हो जायेगी। निम्न विचार वाला मनुष्य ही स्वयं को श्रेष्ठ प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, क्योंकि वह अन्दर से असुरक्षित एवं हीन होता है। अहंकार अज्ञानता का दूसरा रूप ही है। सामान्यतया जिसका अहंशीघ्रता से आहत होता है, वह सरलता एवं सहजता से दूसरों का सम्मान नहीं कर पाता। अतः यदि आप अन्यो का सम्मान नहीं करते, तो इसका तात्पर्य है कि आप स्वयं का भी सम्मान नहीं करते।

हमें अपने विचारों के आदान-प्रदान का भी ध्यान रखना चाहिए। कुछ विद्वान् एवं ज्ञानी संगोष्ठियों में वाचा-प्रहार करने में शीघ्रता करते हैं एवं अपने आस-पास बैठे जनों का सबके समक्ष असम्मान एवं अनादर कर देते हैं। यह बड़ी ही बुरी बात है कि असंख्य अनुभव एवं उपलब्धियाँ प्राप्त करने के बाद भी वे विद्वान् दूसरों का सम्मान करने की साधारण-सी बात नहीं समझते।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि यदि हम दूसरों का सम्मान करेंगे तो अवश्य ही सम्मान पायेंगे। सामने वाला हमें सम्मान देने के साथ-साथ स्नेह भी अवश्य देगा। अतः इस मन्त्र को याद रखें सम्मान दें, स्नेह पायें। ♦

प्रेम और मैत्रीभाव को अपनाकर एक विशाल कुटुम्ब की तरह अपनी वृद्धि करने में ही राष्ट्र की सच्ची सेवा हो सकती है।

मूल्य—विमर्श का महत्त्व

डॉ० सुनीता द्विवेदी

मानव विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक गहरे अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है। भौतिक, सामाजिक, जैविक प्रत्येक स्तर पर अपने आरम्भिक समय से परस्पर विरोधी दो तत्त्वों के द्वन्द्वपूर्ण विकास से ही प्रकृति ने अपने सौन्दर्य को संवारा है।

इस सम्पूर्ण प्राकृतिक सौन्दर्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है मानव, जिसकी प्रकृति भी द्वन्द्वपूर्ण रही है। क्योंकि अपनी वैचारिक शक्ति के कारण मानव प्रकृति के समस्त जीवों में श्रेष्ठतम है। इसी वैचारिक शक्ति द्वारा वह प्रत्येक युग में स्वयं के अपकर्ष—प्रकर्ष का विमर्श करते हुए मानवीय मूल्यों के द्वारा अपनी मूल्यवत्ता को साधता रहा है। दिनकर जी ने शायद इसीलिए यह पंक्तियाँ कहीं—

‘द्वन्द्व भूलते जिसे, सत्य ही
वह जन अभी मनुज है।’

प्रश्न उठता है कि ‘मनुज’ ही क्यों द्वन्द्व के शूलों में उलझता है? मनुष्य की वास्तविक प्रकृति क्या है? सम्भवतः ‘मानव’ जीव के विकास क्रम में वह सोपान या स्थिति विशेष है, जहाँ आकर वह अपने विवेक के द्वारा अपना मार्ग सुनिश्चित करता है। इस क्रम में कभी सत्य—असत्य, हिंसा—अहिंसा, आसक्ति—विरक्ति के दोराहे में उलझ जाता है तो कभी स्वयं को ऐसे चौराहे पर पाता है जहाँ से कई रास्ते अलग—अलग दिशा में खुलते दीखते हैं, फलस्वरूप मार्गों के चुनाव के द्वन्द्व में वह उलझ जाता है। यह ‘कामना—पुरुष’ मानव आजीवन अपनी कामनाओं की पूर्ति और विरक्ति में द्वन्द्व—युद्ध में उलझा रहता है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन इन्हीं सात्विक और तामसिक प्रवृत्तियों का युद्धस्थल ही तो है। ऐसे कई उदाहरण हमारे समक्ष आते हैं, जब श्रेष्ठ मानवीय—मूल्यों से संपृक्त व्यक्ति भी जीवन—संग्राम में उलझ कर किंकर्तव्यविमूढ़ की अवस्था को प्राप्त करता है। किन्तु अपनी सापेक्षिक दृष्टि, विवेक बल या आत्मिक शक्ति द्वारा इस द्वन्द्व से विमोचित

भी होता है। रामचरित मानस में सत्य—असत्य का द्वन्द्व तो गीता में कर्म—अकर्म का द्वन्द्व क्रमशः विभीषण और अर्जुन को अपने घेरे में लेता है। सुसज्जित रथ पर सवार आसुरी शक्ति को देखकर विरथी दैवीय शक्ति के विजय के प्रति शंकाकुल होते विभीषण का शंकासमाधान करते हुए श्रीराम ने एक नई दृष्टि देते हुए कहा—

‘सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा
पताका॥

बल विवेक दम परहित छोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन चोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख
नाना॥

कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न
दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीत न कहं न कतहुं रिपु
ताके॥

महा अजय संसार रिपु, जीति सकई सो वीर।
जाके अस रथ होई दृढ़, सुनुहु सखा मति धीर॥’

(रामचरितमानस ६/७९ ८०/)

तात्पर्य यह है कि सत्य का संधान करने वाले योद्धा को धर्म के रथ पर आरूढ़ होना पड़ेगा। और धर्म मनुष्य से विलग कोई वस्तु नहीं है वरन् मनुष्य को पूर्णत्व प्रदान करने वाला वह मूल्य है जिसके द्वारा संसार रुपी शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

इसी प्रकार युद्ध में अपने ही सगे सम्बन्धियों को देखकर अकर्मण्यता के वशीभूत हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कर्म के लिए यह कहे हुए प्रेरित किया—

सहजं कर्म कौन्तेय, सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निरिवावृता॥
सर्वकर्मण्यपि सदा, कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति, शाश्वतं पदममयम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि, मपि सन्नयस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य, मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८/४८/५६,५७)

किन्तु वर्तमान मानवीय समाज का अनुशीलन करने पर जो वास्तविकता सामने आती है वह द्वन्द्व की नहीं वरन् विषाद की है। कारण कि वर्तमान मानवीय मानसिकता विवेक से नहीं अहं से संचालित हो रही है। अपने छोटे-छोटे अहं की पुष्टि से संतुष्टि प्राप्त करने की चाह वाले इस वर्तमान मानव की गति दिग्भ्रमित हो गई है। भौतिक स्तर पर विकास के अनेकानेक सोपान प्राप्त कर चुका मानव-समाज यन्त्रों-तन्त्रों के बीच पूर्णतः उलझा हुआ स्वयं को अत्यंत निस्सहाय महसूस कर रहा है। क्योंकि उसने क्षणिक सुख प्रदान करने वाले मशीनों, यन्त्रों का अनुसंधान तो किया, किन्तु आत्मसन्तुष्टि देने वाले मानवीय मूल्यों से दूर होता चला गया। अपनी मूलभूत प्रकृति से भटककर अलग-अलग वस्तुओं में अपनी पहचान तलाश करते हुए मानव का विषाद के गर्त में जाना अवश्यम्भावी है। जब भी मानव अपनी मानवीय प्रकृति से हटकर भौतिक इच्छाओं की ओर ज्यादा प्रवृत्त होता है, तब मानव जीवन में असन्तुलन पैदा हो जाता है क्योंकि मनुष्य का आत्म जगत् और भौतिक जगत् के मध्य सन्तुलन स्थापित करते हुए जीवन जीना ही उसकी मूल प्रकृति है। आज मूल्यों के ह्रास का मूल कारण भी यही असन्तुलन है। हम निम्न सारणी के आधार पर इसे समझ सकते हैं—

वर्तमान मानव की स्थिति	मानवीय प्रकृति
१. Money—रुपया	Wealth – सम्पत्ति
२. Success—सफलता	Satisfaction—सन्तोष
३. Speed—तीव्रता	Direction—दिशा निर्देशन
४. Knowledge—ज्ञान	Wisdom—बुद्धिमत्ता
५. Personality—व्यक्तित्व	Character—चरित्र
६. Target—उद्देश्य	Goal—लक्ष्य

७. Happiness—प्रसन्नता

८. Award—इनाम

९. Accumulation—संचय करना

Peace—शान्ति

Reward—पुरस्कार

Fulfilment—परिपूर्णता

उपर्युक्त सारणी को भाग १ और भाग २ में विभाजित कर यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि मानव की मूल प्रकृति या उसकी चाहना तो कुछ और है लेकिन वह कुछ और चाहने के लिए प्रयासरत है। जब तक वह अपनी वास्तविक चाहना को नहीं समझेगा तब तक उसे दुःख और निराशा से मुक्ति नहीं मिल सकती।

आज जो कुछ भी वह एकत्र करने में लगा है, वह उसकी मूल प्रकृति के अनुरूप नहीं है। मूल्य-विमर्श का तात्पर्य भी यही है कि मनुष्य अपने आपको, अपनी सही इच्छाओं को समझने का प्रयास करे, तदनुसार जीवन यापन करे। समाज व्यवस्था और मानवीय स्वभाव में मानवीय मूल्यों का ह्रास कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति ने अपनी संरचना ही ऐसी की है। उसका सम्पूर्ण विकास इन्हीं मूल्यों के आधार पर हुआ है। हमें केवल उसकी बनायी व्यवस्था के अनुसार चलने की जरूरत है। यही मूल्य-शिक्षा का अर्थ है। ♦

धर्म का कार्य है लोगों को सदाचारी और प्रेममय बनाना और राजनीति का उद्देश्य है लोगों का ध्यान रखना, उनके हित के लिए काम करना। जब धर्म और राजनीति साथ-साथ नहीं चलते, तब हमें भ्रष्ट राजनीतिज्ञ और कपटी धार्मिक नेता मिलते हैं।

—श्री श्री रविशंकर

आईने में झाँकते सवाल

प्रीति जायसवाल

प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र के कुछ मूल्य होते हैं। ये मूल्य व्यक्ति—विशेष या समाज—विशेष के विकास में सहायक होते हैं, उसका चरित्र गढ़ते हैं, उसकी अस्मिता के सूचक होते हैं। 'मूल्य' शाश्वत होते हैं। इनकी शाश्वतता ही इन्हे सार्वदेशिक—सार्वकालिक बनाती है। मूल्य नैतिक होते हैं यानी समाज हित में। परन्तु नैतिकता मूल्य के साथ अपना तालमेल सीधे—सीधे नहीं बिठाती। वह परिवर्तित होती है—स्थिति—परिस्थिति के अनुसार। इसलिए नैतिकता की कोई एक परिभाषा नहीं होती, कोई निश्चित सीमा नहीं होती। एक तथ्य यदि किसी मामले में अनैतिक है तो दूसरे में नैतिक हो सकता है।

नैतिकता ईमानदारी की माँग करती है। नैतिकता वह है जिसे हम सहर्ष, बेहिचक स्वीकार कर सकें अन्यथा वह अनैतिक है। यहाँ पर यह बात स्पष्ट है कि नैतिकता या अनैतिकता के प्रश्न सत्य पर डिगे रहने के प्रश्न हैं। यह सत्य हमारे धुँधले व छुपे चरित्र का रहस्योद्घाटन भी कर सकता है। हमारा स्वरूप दिखा सकता है—उज्ज्वलता से ओत—प्रोत अथवा सबके समक्ष नंगा भी कर सकता है। यदि हम अपने सत्य को कुबूल कर लें, चाहे वह जैसा हो— उत्कृष्ट, निकृष्ट, शर्मनाक, खौफनाक वगैरह—वगैरह, तो यह नंगानाच कहीं से भी अनैतिक नहीं अश्लील नहीं।

श्लीलता और अश्लीलता की कसौटी पर कला—साहित्य चिर काल से मूल्यांकित होते रहे हैं। इनका निर्माण समाज में, समाज द्वारा और समाज के दायरे में होता है। यह प्रस्फुटित होने के बाद लंबी दूरी तय करती है — अनन्त असीम दूरी; व्यक्ति—समाज से जुड़कर भी, इन सबको लांघती—टकराती संघर्ष करती आगे बढ़ती है। क्योंकि सर्जनात्मकता किसी घेरे में नहीं

पनपती और यदि उसके बीज किसी तरह अंकुरित हो भी गये तो वह घेरे तोड़ना जानती है, यह अतिक्रमण ही उसका 'नितनवीन' सौन्दर्य है। परिवर्तन का नयापन ही उसकी जान है। यह उन्मुक्तता ही उसकी प्रकृति और पहचान है। यहीं सवाल उठता है कि यह नयापन कैसा हो? इसकी उन्मुक्तता कितनी और क्या हो? सर्जनात्मकता के बारे में तमाम विद्वानों व मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि सृजनात्मकता तभी तक है जब वह समूह को लाभान्वित करे, समुदाय के लिए उपयोगी हो। यदि कोई कृति समाज के विकास में योगदान नहीं देती तो वह सर्जनकर्ता का उन्माद भर है। अतः वही सौन्दर्य नैतिक एवं श्लील है जो समाज के लिए कल्याणकारी हो। अर्थात् समष्टि की अनुभूति, सुख—दुख, जब सर्जक की साक्षी होती है तब तादात्म्यीकृत रचना सफल मानी जाती है। आज भी 'मानस' घर—घर में अपनी जगह बनाये हुए है तो इसका एक मात्र मूल कारण है कि वह 'स्वातः सुखाय' से पहले 'परिजनहिताय' की प्रेरणा से संपृक्त है।

प्रसिद्ध उक्ति है — 'साहित्य समाज का आईना है'। आजकल इस आईने में नैतिकता—अनैतिकता के सवाल झाँक रहे हैं। सवाल पुराने हैं और बिल्कुल ताजे भी, खासतौर पर इधर विमर्शों से लोगों का ध्यान तनिक टूटा है, संदर्भों के कोण बदले हैं। जाने क्यों साहित्य से 'आदर्श—चरित्र', नैतिक प्रतिमान कोसों दूर कूच कर गये हैं। वासना, व्यभिचार, बलात्कार, सेक्स, कुंठा आदि मानसिक विद्रुपताओं का पुलिंदा बन गया है साहित्य। और इस पुलिंदे को सामने रखकर योद्धा युद्ध कर रहे हैं। 'युद्ध' — एक—दूसरे से खुद को श्रेष्ठ साबित करने का। युद्ध; अपनी बात को शत—प्रतिशत प्रामाणिक — मौलिक मनवाने का। इस युद्ध में योद्धाओं का तो कुछ नहीं बिगड़ रहा, पर सारा खामियाजा 'बेचारे साहित्य' को भुगतना

पड़ रहा है। रणबाँकुरों की फौज में एक ओर चोट खाये, बहिष्कृत, निभकाषित, आक्रोश से भरे, तिलमिलाये योद्धा हैं तो दूसरी ओर सशस्त्र, सशक्त, कुलीन कुल के महिम। ये नजरे गड़ाये हैं कि कब मौका मिले और ये दूसरे को काट खायें। तो भाईयों—बहनों, इनका दूर—दूर तक नैतिकता से रिश्ता है न श्लीलता से नाता। इनका काम है बिला वजह हुरपेचना, उकसाना और बलात् हुँकारी भरवाना।

इन तमाम वारदातों पर गौर करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भूमण्डलीकरण व बाज़ारवाद ने नैतिकता और श्लीलता के मानकों को सस्ते दामों पर खरीद लिया है। और अब बाज़ार ही निर्धारित करता है — नैतिकता—अनैतिकता, श्लीलता—अश्लीलता के मानदण्ड। बाज़ार बिक्री की 'बोलियाँ' लगाता है और जहाँ उसे सर्वाधिक लाभ दिखता है, वहाँ झट सौदा कर लेता है।

दुःख की बात यह है कि इस सौदेबाजी में औरत का इस्तेमाल हो रहा है — उपकरण की तरह। वात्सल्य, प्रेम, लज्जा की प्रतिमूर्ति टूट रही है। बाज़ार ने सबको इस कदर 'हिप्नोटाइज' कर रखा है, कि वह जैसा चाहता है, वैसा करवा रहा है। यानी स्त्री में अब स्त्रित्व नहीं, बाज़ार बोल रहा है। पुरुषों की रूढ़ मानसिकता धीरे—धीरे पलायित हो रही है, वे दो कतरा पिघले हैं। पर यह कोई स्वाभाविक परिवर्तन नहीं, वरन् यहाँ भी इन सबके पीछे बाज़ार काम कर रहा है।

मोटे तौर पर बात करें तो नैतिकता के सारे प्रश्न एक जगह आकर सिमट जाते हैं या उससे आगे बढ़ नहीं पाते। यह 'स्टॉपेज' है — 'स्त्री देह'। इस देह से ही तरह—तरह के प्रश्न पैदा होते, तरह—तरह की बातें उठती—बनती हैं। तो क्या श्लीलता—अश्लीलता का पैमाना देह तक ही सीमित है या इसके आगे भी..... ...। जानी—मानी नवोदित साहित्यकार अनामिका का मानना है कि — "किसी को तकलीफ में भी देखकर अंखिया देना या उसकी मदद को हाथ नहीं बढ़ाना परले दर्जे की चरित्रगत हीनता है। सामाजिक मुद्दों पर राय

जाहिर नहीं करना, ऐन मौके पर चुप रह जाना भी अश्लीलता है।" मतलब समाज से सरोकार न रखने वाले या निरपेक्ष, भावशून्य, सक्रियताहीन, अनुक्रिया विहीन मनुष्य निश्चित ही घोर अनैतिक है। गीता श्री के अनुसार — "देह किसी ब्राह्मण की रसोई नहीं कि जूठी हो जायेगी।" और जूठी भी होती है तो स्त्री—देह ही क्यों? उसके साथ लिप्त पुरुष देह क्यों नहीं?

'सेक्स'! साहित्य, कला, मीडिया सभी पर उसका जादू चल गया है। 'सेक्स' पर भी दो तरह के विचारधाराओं के लोग मिलते हैं। एक का कहना—मानना है कि 'सेक्स' आज के समय की 'डिमांड' है, इसके बिना गाड़ी आगे बढ़ ही नहीं सकती, तो दूसरे मुँह ढाँपे, हिश्रा! सेक्स, छी::; पन्नों को छुपाकर पढ़ो, फिल्में सबके साथ (घर—परिवार, बड़े—बुजुर्ग आदि) न देखो, कामुक नंगी तस्वीर वाले पोस्टर सामने मत लगाओ। यहीं सवाल उठता है कि क्या 'सेक्स' डिमांड है या शर्मशार करने वाली विषय—वस्तु—क्रिया? जी हाँ, सेक्स डिमांड है, था और रहेगा। सेक्स कोई अनहोनी या घृणास्पद कृत्य नहीं बल्कि एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो हर व्यक्ति के जीवन में घटित होती है। एक निश्चित समयावधि में सहज तौर पर। यदि यह सहज न हो तो....? जाहिर है 'असहज—सेक्स' बलात्कार है, अनैतिक है, घृणित है। आज बहुत जरूरी है कि हम इसे सहज वृत्ति के रूप में लें, आदर के रूप में स्वीकारें, संस्कार—परम्परा के रूप में प्रतिष्ठित करें। यदि अब भी हम अपने विचारों का पुनर्निरीक्षण, प्रतिवर्तन न कर सकें तो हम मानसिक रूप से अस्वस्थ हो जायेंगे; तब हम अनैतिक हो जायेंगे — मन से। तब असंतुष्टि किस घाट लगायेगी, कहा नहीं जा सकता? नगरों—महानगरों में बढ़ते देह व्यापार दुष्कर्म इसके प्रत्यक्ष साक्ष्य हैं। आधुनिक युग में भी समाज का बड़ा तबका इन विषयों पर बात करने में हिचकिचा रहा है, कतरा रहा है, मुँह फेर रहा है। वह अब भी मासिक, सैनितरी नैपकिन, कंडोम की बात पर खुसुर—फुसुर करता

है। हाँलाकि मीडिया ने कुछ भी 'ढंका-छुपा' नहीं छोड़ा। सब सामने परोस दिया। और ऐसा परोसा कि स्कूलों में 'काण्ड' होने लगे, कच्ची उम्र के बच्चों द्वारा प्रयोग का मजा चखने से। ऐसे में साहित्य पर जिम्मेदारी आती है कि वह मीडिया से दाँत-काटी दोस्ती छोड़ दे। समाज को गर्त में जाने से बचाना है तो वह अपने बूते मोर्चा ले। अपनी कमर कस मजबूत ताकतों के खिलाफ एकजुट हो हल्ला बोल दे। 'अब नहीं चलेगी मनमानी पछुवा हवाओं की।'

समय बदला है। मानसिकता भी। प्रणय-निवेदन, विवाह, सम्बन्धों के रंग-रूप भी। अब व्यक्ति अपने में इतना सीमित हो गया है कि उसे अपने पड़ोसी की कोई खबर नहीं, पड़ोसी तो दूर माँ-बाप भी उसे बोझ लग रहे हैं, स्वतन्त्रता में बाधक। निजी जिन्दगी और परिवार (पति-पत्नी एवं संतान) से वह उन्हें बाहर ढकेल रहा है, वृद्धाश्रमों में रहने को मजबूर कर रहा है। जिन्दगी की भाग-दौड़ में किसी के पास समय नहीं, माँ-पिता अगर दोनों नौकरी-पेशा वाले हैं, तो ऐसे में बच्चों के लिए उनके पास धन तो है पर संस्कार नहीं, प्यार नहीं, समय नहीं। ऐसे में बच्चों का माँ-बाप से दूरी और अपनत्व का अभाव आगे जाकर घातक सिद्ध होता है। इस आपाधापी में परम्पराएँ-रिवाज-संस्कार छूटते-विलुप्त होते जा रहे हैं। कोई दो राय नहीं कि इनकी भरपाई के लिए कुछ संस्थाओं-क्लबों-परिषदों ने बीड़ा उठाया है। वे 'सहयोग-समर्पण' का नारा लगा धड़ल्ले से चल रहे हैं। यहाँ की औरतों द्वारा उन छूटे-छिटके तीज-त्यौहारों को पुनर्जीवित करने का अभिजात्यीकरण देखा जा सकता है दैनिक अखबारों में। वृद्धाश्रमों में सामान वितरित करते हुए या फैमिली पिकनिक में। पर काश! ये महिलायें अपना 'स्टेट्स सिंबल' और फैशन छोड़कर सीधे-सादे ढंग से मिलजुलकर अपने ही पड़ोसी के साथ ये त्यौहार जिन्दा रखती, अपने बुजुर्ग माँ-बाप व नौनिहालों को समय देतीं कि भविष्य में क्रेच और वृद्धाश्रम खुलने की नौबत न आती। ऐसे विचार घर-घर पहुँचाती तो निश्चित ही सही अर्थों में बहुत कुछ बच जाता जिसकी उम्मीद हम सब करते हैं। ♦

मोती

डॉ० अनीता यादव

चाहते हो गर करना, जीवन सुफल अपना—
तो किसी के दर्द को बना ले दर्द अपना।
चुन किसी की राहों के शूल सब,
कुछ भीगी पलकों के मोती चुनना—
फिर भरना उनमें कोई सुनहरा सपना।
अब तलक जले, पकड़े चाँद के अक्स—
और झुलसते रहे अपनी ही आग में.....
इक बार देख—

कितना शीतल है !

किसी और की आग में जलना।

बूँद बन—

सीपी में ढल

फिर देख खुद का मोती बनना।

—प्रवक्ता (हिन्दी), सेन्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल
कमच्छा, वाराणसी

पड़ोसी से प्रेम करने वाला विपत्ति
में भी सुखी रहता है, जबकि
पड़ोसी से बैर ठानने वाला सम्पत्ति
में भी दुःखी होता है।

—राम प्रताप त्रिपाठी

मनोवैज्ञानिक परामर्श की आवश्यकता

डॉ० अजय तिवारी

विज्ञान और तकनीकी की आधुनिकता के कारण जीवन अत्यधिक कठिन होता जा रहा है व्यक्ति की चिन्तन प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, विद्यार्थियों में सही मार्ग के चयन की समस्या बढ़ती जा रही है, जिसमें जरूरत है उचित निर्देशन व परामर्श की। निर्देशन की आवश्यकता व्यक्ति की रुचि, अभिवृत्ति, मूल्य व्यक्तित्व आदि तथा सामाजिक तौर पर समाज में मेल-मिलाप, सामाजीकरण, जॉब पर्फॉर्मेन्स तथा टूटते हुए संयुक्त परिवार को बचाने में है। मुख्यतया परामर्श एवं निर्देशन की आवश्यकता दो क्षेत्रों में महसूस की जाती है:

(१) **मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में**— मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में प्रायः तीन चरण होते हैं।

(अ) विकास के विभिन्न चरणों में अलग-अलग तरह के मनोवैज्ञानिक परामर्श व निर्देशन की आवश्यकता महसूस होती है। जैसे—बाल्यावस्था, किशोरावस्था, वयस्क व वृद्धावस्था।

इन अवस्थाओं में समायोजन की समस्या, सेक्स से सम्बन्धित समस्याएं, शिक्षा सम्बन्धी समस्याएं, भावनात्मक समस्याएं, पहचान की समस्याएं, व्यवसाय चयन की समस्याएं प्रायः देखी जाती हैं जिनमें मनोवैज्ञानिक निर्देशन व परामर्श की आवश्यकता होती है।

(ब) व्यक्तिगत विभेदन— प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होता है। शारीरिक रूप से भिन्नता; जैसे—दुबला, मोटा, लम्बा, छोटा, सांवला, गोरा या विकलांग। मानसिक रूप से भिन्नता; जैसे—बुद्धि का स्तर—ज्यादा—मध्यम—कम। भावनात्मक रूप से भिन्नता जैसे—प्यार—दुलार, ईर्ष्या, आक्रामकता, डरपोक, साहसी आदि। व्यक्तिगत विभेदन होने के कारण व्यक्ति में भिन्न-भिन्न निर्देशन व परामर्श की आवश्यकता पड़ती है।

(स) भिन्न-भिन्न अवसर—व्यक्ति की आवश्यकता

भिन्न-भिन्न अवसरों की होती है; परन्तु कौन सा अवसर किस व्यक्ति के लिए उपयुक्त होगा इस कार्य हेतु आवश्यकता होती है मनोवैज्ञानिक परामर्श व निर्देशन की।

(२) **सामाजिक व शैक्षिक क्षेत्र में**— मुख्यतया निम्न क्षेत्रों में परामर्श व निर्देशन की आवश्यकता है:

(i) टूटते हुए संयुक्त परिवार में

(ii) मानवीय संसाधनों के सही प्रयोग में

(iii) फुर्सत के क्षणों के सही उपयोग में

(iv) शैक्षिक पाठ्यक्रमों के उपयुक्त चयन में

(v) नैतिक मूल्यों के परिवर्तन में

(vi) व्यक्तिगत पहचान में

(vii) घर परिवार में निर्देशन का अभाव

(viii) स्थिरता में कमी से बचाव

(ix) उचित समायोजन में

(x) भेदाव्यक्त व्यवसायिक सूचनाओं में

(xi) असाधारण बच्चों के व्यवस्थापन में

(xii) कार्यकारी महिलाओं के समायोजन में

(xiii) उपयुक्त स्वास्थ्य हेतु मनोवैज्ञानिकों द्वारा लोगों को शैक्षिक, व्यवसायिक, व्यक्तिगत, अव्यवसायिक, स्वास्थ्य, असाधारण, सामाजिक एवं भावनात्मक निर्देशन दिये जाते हैं।

शैक्षिक निर्देशन की आवश्यकता:

— विद्यार्थियों की शैक्षिक प्रगति में

— विद्यार्थियों में प्राथमिक/निरन्तर शिक्षा की निगरानी

— शैक्षिक प्रवृत्ति में कठिनाइयों का समाधान

— सीखने की अक्षमता की जाँच व समाधान

— विद्यार्थियों की क्षमता के आधार पर शिक्षण

— व्यवसाय उन्मुख शिक्षा को बढ़ावा

— उपयुक्त विषय का चयन

व्यवसायिक निर्देशन:

— व्यवसायिक प्रशिक्षण की तैयारी

- व्यवसाय का सही चयन
- विद्यार्थियों के व्यवसायिक हताशा का उन्मूलन
- व्यवसायिक चिन्तन का सही समायोजन

व्यक्तिगत निर्देशन:

- उपयुक्त दिनचर्या
- व्यक्तिगत विकास में सहायता
- मानसिक स्वास्थ्य के सुधार में सहायता

अव्यवसायिक निर्देशन:

- अन्य क्रियाकलाप को बढ़ावा
- खेलकूद में बढ़ावा
- रुचियों व शोक को बढ़ावा

स्वास्थ्य निर्देशन:

- उपयुक्त स्वास्थ्य सलाह
- सेक्स शिक्षा परामर्श
- शारीरिक व्यायाम के कार्यक्रम

परामर्श व निर्देशन की इन आवश्यकताओं के अतिरिक्त व्यक्ति में हर क्षण समायोजन, उचित निर्देशन व परामर्श की आवश्यकता होती है यदि व्यक्ति उचित समय पर निर्देशन व परामर्श नहीं प्राप्त करता है तो विभिन्न प्रकार के शारीरिक व मानसिक दंश का शिकार हो जाता है। सही मार्ग दर्शन व परामर्श हेतु नैदानिक मनोवैज्ञानिक सम्पर्क किया जा सकता है। ♦

जो बात सिद्धान्त से गलत है, वह व्यवहार में कभी उचित नहीं हो सकती।

—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

सत्य के लिए हर वस्तु की बलि दी जा सकती है, किन्तु सत्य की बलि किसी भी वस्तु के लिए नहीं दी जा सकती।

—स्वामी विवेकानन्द

ये संसार है एक घोसला

शैलेन्द्र कुमार मिश्र

ये संसार है एक घोसला

जिसे छोड़ सबको उड़ जाना है।

फिर भी है दिलों में द्वेष और असन्तोष,

कुछ हाथ नहीं जब आना है।

ईश्वर ने भेजा जब हमे धरा पर,

सोचा सभी को बाँटेंगे खुशियाँ।

पर आज मानव गिर चुका यहाँ तक,

छीन रहा बच्चों के मुख से रोटियाँ।

भूख गरीबी से जीवन दम तोड़ रहा,

अपना बनता बेगाना है।

ये संसार.....

शोहरत की चाह में अन्धे होकर,

काट भी सकते भाई का शीश।

आज बदली मानव सभ्यता देखो,

बच्चे दर-दर मांग रहे हैं भीख।

लुट जाती नारी की आबरू,

नपुंसक बना देखता जमाना है।

ये संसार है.....

डर के साये में जी रहा हर कोई,

नहीं रहा किसी को सुख चैन।

मांगे ईश्वर से दुआ यही,

कोई अनहोनी न देखे हमारे नैन।

मानव बना मानव रक्त का प्यासा,

अपनी प्यास रक्त से चाहता बुझाना है।

मानवीय मूल्य का कर विकास हमे,

सभी द्वेष-दुर्भाव मिटाना है।

ये संसार है एक घोसला,

जिसे छोड़ सबको उड़ जाना है।

—स्नातकोत्तर (मानवाधिकार) मानवाधिकार
आयोग, दिल्ली

कार्यशालाओं का संक्षिप्त विवरण

जीवन में नैतिक मूल्यों का द्रुत गति से हो रहे पतन एवं मूल्यों के प्रति उपेक्षा, अनास्था एवं उदासीनता ने सभी सोचने वालों की आत्मा को झकझोर दिया है। जीवन के सभी पक्षों में भयानक रोग की तरह फैली यह सर्वग्राही अनैतिकता और साथ-ही-साथ अनैतिक आचरण कर्ताओं को निर्बाध रूप से मिलती सफलता से हर सामान्य चिंतक भयाक्रान्त हो उठा है। आज अनैतिक आचरण को सफलता की कुंजी और प्रगति का मार्ग माना जाने लगा है। सुविधापरक, भोगवादी आकांक्षाएं ही जीवन का चरम लक्ष्य बनती जा रही हैं। सुखी और सफल जीवन की अवधारणा मात्र पद-प्रतिष्ठा की प्राप्ति तक ही सीमित रह गयी है। समन्वित मानव व्यक्तित्व के आधारभूत जीवन-मूल्य व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन में अप्रतिष्ठित हो गये हैं।

इस संकट का एक प्रमुख कारण यह है कि हमारे वैचारिक जगत् में मूल्यान्वेषण की परम्परा रूढ़ हो गयी है। 'अच्छे' व्यक्ति, 'अच्छे' समाज और 'अच्छे' जीवन का क्या रूप होना चाहिए, इन प्रश्नों पर चिंतन बन्द हो गया है। नये युग की नई चुनौतियों, नई समस्याओं का सामना करने के लिए मूल्यों के धरातल पर हमारे पास नये सिद्धान्त नहीं हैं। मानव मूल्यों के अंतर्द्वंद से उद्भूत इन समस्याओं का हल पश्चिम से आयातित, मात्र आर्थिक-राजनैतिक परिधि में सीमित आइडियॉलॉजियों के द्वारा नहीं हो सकता और न ही अध्यात्म प्रधान, व्यक्तिगत मोक्षोन्मुखी प्राचीन भारतीय मूल्य परम्परा की पुनरावृत्ति करते रहने मात्र से। इसके लिए आवश्यक है गतिशील, सर्जनात्मक चिंतन द्वारा एक नई मूल्य परम्परा का विकास। ऐसी सशक्त परम्परा जो जीवन प्रवाह की सहायिका हो, जो उसे संयमित कर

सके; जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक प्रगति का दिशा-निर्देशन कर सके और जिसे हम आधुनिक भारतीय मूल्य परम्परा कह सकें।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान महात्मा गाँधी, महर्षि अरविन्द, महामना मदन मोहन मालवीय, गुरुदेव टैगोर आदि महान् विभूतियों के व्यक्तित्व एवं विचारों की शक्ति ने जीवन मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए जन-मानस को सशक्त प्रेरणा दी। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक और मानवीय प्रगति के लिए मात्र भौतिक विकास को ही आधार मान लिया गया; सारे प्रयत्न और संसाधन इसी दिशा में लगा दिये गये, मूल्य-प्रगति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। राष्ट्र निर्माण मात्र सड़कों, बाँधों, कल-कारखानों, आयुधों अथवा सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि से नहीं हो सकता। उसके लिए आवश्यकता होती है—मूल्य-मर्यादाओं के अनुरूप न्यायपूर्ण समाज-दर्शन की। और इस के अनुरूप सामाजिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं की और उससे भी अधिक आवश्यकता होती है; सच्चरित्र, मूल्यनिष्ठ एवं विवेकशील व्यक्तियों की, जो इन व्यवस्थाओं को लोकहित के लिए चलाने योग्य हों। ऐसे व्यक्तियों की जिनकी सामाजिक, नैतिक और मानवीय चेतना विकसित हो। जिनका व्यक्तित्व समन्वित हो। ऐसे 'अच्छे' व्यक्ति पैदा नहीं होते, वरन् बनाये जाते हैं। और यह कार्य करती है मूल्य-शिक्षा।

आधुनिक युग में मूल्य अनुशीलन, संप्रेषण एवं मूल्य-शिक्षा का मुख्य दायित्व विश्वविद्यालयों का होना चाहिए। किन्तु विश्वविद्यालयों ने तथा उच्च शिक्षा के अन्य संस्थानों ने अपने स्नातकों के चरित्र निर्माण, उनकी मूल्यनिष्ठा का विकास तथा एक अच्छा समाज बनाने के प्रति उनके मन

में दायित्व—बोध की स्थापना आदि को अपना दायित्व माना ही नहीं। वे या तो मात्र परीक्षा लेकर डिग्री बाँटने के अथवा किसी सीमित विशेषज्ञ-क्षेत्र में कार्य कुशलता का प्रशिक्षण देले वाले संस्थान बन कर रह गये हैं। व्यापारीकरण के नये दौर में इन उच्च शिक्षा संस्थानों में अर्थकारी विद्याओं का ही वर्चस्व बढ़ रहा है तथा उसी अनुपात में सामाजिक और मानवीय प्रगति से संबन्धित वैचारिक चिंतन एवं शैक्षिक कार्यक्रम घट रहे हैं। मूल्य शिक्षा पर जो थोड़ी—बहुत चर्चा हो रही है, उसका ध्यान मुख्यतः प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा तक केन्द्रित है। विद्यालयों के स्तर पर सामान्य नैतिकता की शिक्षा होनी चाहिए। इस दिशा में शिक्षा शास्त्रियों एवं समाज से जुड़े मूल्यगत प्रश्नों की व्यापक समझ को विकसित करने का कार्य विश्वविद्यालय के स्तर पर ही हो सकता है। इसके लिए उनके पास स्वायत्तता भी है और बौद्धिक क्षमता एवं संसाधन भी। आवश्यकता है संस्थागत संकल्प शक्ति की।

इन्हीं अनुभूतियों एवं विचारों से प्रेरित होकर पन्द्रह वर्ष पूर्व अपने कौस्तुभ—जयंती वर्ष में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने 'मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र' की स्थापना की थी। विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मालवीय जी के शिक्षा—दर्शन में चरित्र—निर्माण, दायित्व—बोध, देश—प्रेम एवं मूल्य—निष्ठा का प्रमुख स्थान था। उनकी दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य ऐसे समन्वित व्यक्तित्व का विकास था; जिसके बौद्धिक, नैतिक और भावनात्मक सभी पक्ष समुन्नत हों। महामना को समर्पित इस केन्द्र का उद्देश्य है—व्यापक मूल्य चिंतन, मूल्य शिक्षा का विकास एवं प्रसार। गत वर्षों में इस केन्द्र ने मूल्य—विषयक प्रश्नों पर कई गोष्ठियाँ, चर्चाएँ एवं कार्यशालायें आयोजित कीं। इसी कड़ी में इस केन्द्र ने इस वर्ष 'जीवन मूल्य एवं समन्वित व्यक्तित्व विकास' की नवमीं कार्यशाला तथा 'जीवन मूल्य एवं मानवीय क्षमताओं का विकास' की

द्वितीय सघन कार्यशाला का आयोजन किया, जिसका सार संक्षेप इस प्रकार है—



'जीवन—मूल्य एवं समन्वित व्यक्तित्व विकास' की नवीं कार्यशाला के आचार्य एवं प्रतिभागीगण

नवमीं कार्यशाला का आयोजन सितम्बर १९ से अक्टूबर २८, २००५ तक (पाँच सप्ताह) मालवीय भवन सभागार में प्रतिदिन सायंकाल ५ बजे से ७ बजे तक किया गया। इस कार्यशाला में विश्वविद्यालय के विभिन्न संकायों के ५५० छात्र—छात्राओं ने आवेदन किया और अन्त तक १५० विद्यार्थी नियमित रूप से भागीदारी निभाते रहे।

कार्यशाला में विश्वविद्यालय के विभिन्न संकायों के लगभग १६ आचार्यों ने तथा विश्वविद्यालय परिवार से बाहर के ६ वरिष्ठ अधिकारियों ने जीवन—मूल्यों से जुड़े हुए विभिन्न विषयों पर व्याख्यान दिए। कार्यशाला में की गई चर्चाओं की सूची लेख के अन्त में उद्धृत है। कार्यशाला की चर्चाएँ मुख्य रूप से तीन बिन्दुओं पर केन्द्रित थी। पहला बिन्दु था—'अच्छे' जीवन के आधारित मूल्य। इन मूल्यों को सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में विभक्त कर तीन सत्रों में उनकी समुचित व्याख्या की गयी।

इनके अन्तर्गत जीवन में कैसे सफल हुआ जाए, मैत्री-भावना के द्वारा अन्तः चेतना का विकास एवं आज के जीवन में हम कैसे मानसिक रूप से स्वस्थ रहें आदि पर विस्तार पूर्वक चर्चा की गयी। अच्छा व्यक्तित्व बनने के लिए गाँधी जी हमें क्या प्रेरणा देते हैं? व्यक्तित्व विकास में परिवार की भूमिका एवं भारतीय संस्कृति का आज के जीवन में महत्व आदि विषयों पर तीन सत्रों में चर्चा की गयी।

द्वितीय बिन्दु था—एक 'अच्छे' न्यायपूर्ण समतावादी समाज की स्थापना के आधारभूत मूल्य। इसके अन्तर्गत कई सत्रों में सामाजिक दृष्टिकोण से चर्चा की गयी—जैसे—भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में एक अच्छे समाज की परिकल्पना, हमारे सामाजिक दायित्व व उनका निर्वाहन हम कैसे करें?

इससे जुड़े अन्य महत्वपूर्ण विषयों—पर्यावरण संरक्षण और संवर्धन, वैज्ञानिक दृष्टि का आज के जीवन में महत्व एवं कैसे साहित्य मानव मूल्यों का परिष्कार करता है? आदि पर भी चर्चाएं हुईं। **तीसरा बिन्दु था—मूल्य आधारित व्यावहारिक गुणों का विकास।** इसके अंतर्गत मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चर्चा की गयी, जैसे—आपको सामान्य व्यवहार में आपका व्यक्तित्व झलकता है, जीवन—मूल्यों के विकास में भावनाओं का महत्व जीवन के प्रति समग्र—दृष्टि आदि विषयों की।



कार्यशाला में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि ये चर्चाएं उपदेशात्मक न होकर संवादात्मक हों। इसको ध्यान में रखकर ५० मिनट का समय विद्वानों द्वारा विषयवस्तु की प्रस्तुति के लिए और उतना ही समय प्रतिभागियों को प्रश्न पूछने व अपनी टिप्पणी देने के लिए दिया गया। चार सत्रों में अतिथि व्याख्यान हुए, जिसमें डॉ० पवन सुधीर, वरिष्ठ प्रवक्ता (राज्य शैक्षणिक एवं अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली), श्री शैलजाकान्त मिश्र (पुलिस महानिरीक्षक पी० ए० सी०, लखनऊ) व श्री पवन कुमार तिवारी, ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट (जनपद न्यायालय, जौनपुर), श्री गिरीश पाण्डेय, आयुक्त (आयकर विभाग, गाजियाबाद) तथा श्री शुभ नारायण सिंह, सेवानिवृत्त (वरिष्ठ अधिकारी टेलको, मुम्बई) आदि ने अपने मूल्यपरक चिंतन से विद्यार्थियों को अवगत कराया। उपर्युक्त वक्ताओं ने अपने-अपने क्षेत्र में किये गये मूल्यपरक प्रयोगों व उनकी सफलताओं की भी जानकारी दी।

जीवन—मूल्यों के प्रति प्रतिभागियों की रुचि देखकर सन् २००४ से दस दिवसीय सघन कार्यशाला का प्रारम्भ किया गया। इसमें पाँच सप्ताह तक होने वाली प्रारम्भिक कार्यशाला में भाग लेने वाले प्रतिभागियों में से ३० प्रतिभागियों का चयन किया गया। इस कार्यशाला के लिए विषयों का चयन व समयावधि का निर्धारण इस तरह से किया गया कि प्रतिभागी जीवन—मूल्यों को गहराई से समझ



‘जीवन मूल्य एवं मानवीय क्षमताओं का विकास’ की द्वितीय सघन कार्यशाला के प्रतिभागीगण

सके। साथ-ही-साथ जीवनमूल्यों की समझ के अनुसार जीवन जीने हेतु अपनी विभिन्न क्षमताओं का भी विकास कर सके।

इसी दृष्टि से इस कार्यशाला में नैतिक, बौद्धिक, भावनात्मक, नेतृत्व, सृजनात्मक एवं परस्पर सहमति आदि क्षमताओं के विकास हेतु वक्ताओं ने अपने विचारों व प्रतिभागियों के साथ कुछ प्रयोगात्मक कार्यों के माध्यम से यह दिखलाने का प्रयास किया कि जीवनमूल्यों का जीवन जीने की शक्ति हमारे ही अन्दर विद्यमान है। जरूरत है इसके विकास की।

इस कार्यशाला में देश के विभिन्न भागों में, विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से प्रशिक्षण देने वाले तीन अतिथियों को आमंत्रित किया गया, जिनमें प्रमुख हैं—श्री ज्ञान पाण्डेय (निर्देशक लीडरशिप ट्रेनिंग सेन्टर, लखनऊ), श्री पवन कुमार गुप्त (निर्देशक एवं संस्थापक 'सिद्ध' संस्था मसूरी) तथा डॉ० पूनम देवदत्त (प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एवं मनोचिकित्सक, मेरठ)। इनकी प्रस्तुति व मार्गदर्शन से प्रतिभागी बहुत लाभान्वित हुए। कुछ प्रतिभागियों का तो कहना था कि इस कार्यशाला ने हमारे जीवनदृष्टि को ही बदल दिया। अब हमारी जीवन यात्रा उद्देश्यपूर्ण, आनन्दपूर्ण ढंग से व्यतीत होगी। सभी प्रतिभागियों का बार-बार यही कहना था कि इस तरह की कार्यशालायें सतत् चलती रहनी चाहिए।

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र द्वारा एक विशिष्ट कार्यशाला का भी प्रारम्भ विगत वर्ष से ही किया गया। इसका विषय था—'उत्कृष्टता की खोज: मानवीय मूल्यों की परिधि में'।

इस कार्यशाला में पावरग्रिड कार्पोरेशन के अन्तर्गत देश के विभिन्न भागों में कार्यरत पच्चीस वरिष्ठ अधिकारियों ने भाग लिया। यह कार्यशाला दिसम्बर ५ से दिसम्बर १०, २००५ (छः दिन) तक सीनेट हाल (स्वतन्त्रता भवन) का० हि० वि० वि० व ज्ञान प्रवाह (सामनेघाट) में आयोजित की गयी। इसमें अपने-अपने क्षेत्र के ख्यातिलब्ध सात वक्ताओं

ने इक्कीस सत्रों में उत्कृष्टता से तात्पर्य, उसके विकास हेतु मानवीय मूल्यों की दृष्टि से किये गये प्रयोगों व उनकी सफलताओं से प्रतिभागियों को अवगत कराया।

प्रारम्भ में प्रतिभागियों के मन में मूल्यों के हास व मूल्य संकट को लेकर अनेक प्रश्न थे, लेकिन कार्यशाला के समापन सत्र में उन सभी अधिकारियों ने बहुत ही उत्साह और सकारात्मक विचार रखे। सभी ने जीवन—मूल्यों की दृष्टि से अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं कार्यक्षेत्र में कर्तव्य निर्वाहन का संकल्प दुहराया। सभी ने माना कि वर्तमान मूल्य—संकट की समस्या का समाधान हमारे ही द्वारा जीवन—मूल्यों का जीवन यापन करने से सम्भव होगा। यह समस्या मनुष्य द्वारा पैदा की गयी और मनुष्य द्वारा ही इसका समाधान भी सम्भव है।

उपर्युक्त कार्यशालाओं का उद्देश्य किसी पूर्व स्थापित वाद अथवा परम्परा को प्रतिभागियों पर आरोपित करने का नहीं था। इसमें की गयी प्रस्तुतियाँ 'बहु-विचारवाद' की समर्थक रहीं। तथापि सभी प्रस्तुतियों में भारतीय मूल्य परम्परा एवं उदात्त मानवतावादी मूल्यों के प्रति बल दिया गया। हमने प्रतिभागियों के वैचारिक स्वातंत्र्य को प्रोत्साहित किया। मूल्यों के प्रति हमारा केवल एक आग्रह था—स्वविवेक पर आधारित स्वीकारोक्ति।

उन कार्यशालाओं के आयोजन से प्राप्त अनुभवों से यह स्पष्ट हो गया है कि विश्वविद्यालयों एवं देश में लोगों का एक ऐसा वर्ग भी है जो मूल्यों के प्रति संवेदनशील और जिज्ञासु है। इस प्रकार के अनौपचारिक एवं ऐच्छिक कार्यक्रमों से उनकी मूल्य चेतना को पर्याप्त रूप से विकसित किया जा सकता है। मूल्यशिक्षा के सन्दर्भ में प्रायः यह कहा जाता है कि कक्षा में भाषण देकर मूल्यनिष्ठ होने की प्रेरणा नहीं दी जा सकती। प्रतिभागियों से मिली प्रतिपुष्टियाँ इस विचार का स्पष्टतः खण्डन करती हैं। वस्तुतः मूल्य—चेतना न्यूनाधिक रूप से सभी में होती है। आवश्यकता—

इस बात की है कि इस सुसुप्त चेतना को उचित शैक्षिक प्रयासों द्वारा जाग्रत किया जाए और मूल्यनिष्ठ व्यक्तियों के उदाहरणों द्वारा युवावर्ग, अधिकारी-कर्मचारी, जन सामान्य के समक्ष मूल्याधारित जीवन के आदर्श प्रस्तुत किए जाएं।

उपर्युक्त कार्यशालाओं के विषय एवं व्याख्याताओं का परिचय इस प्रकार है...

(१)

“जीवन मूल्य एवं समन्वित व्यक्तित्व विकास”

नवीं कार्यशाला: सितम्बर १९ से अक्टूबर २८, २००५ तक

स्थान: मालवीय भवन

क्रम सं०	विषय	वक्ता	क्रम सं०	विषय	वक्ता
१.	कार्यशाला का परिचय	अजित नारायण त्रिपाठी	७.	आपके सामान्य व्यवहार में आपका व्यक्तित्व झलकता है।	रमेश चन्द्र मिश्र
२.	सफल जीवन, समन्वित व्यक्तित्व एवं जीवन मूल्य	अजित नारायण त्रिपाठी	८.	जीवन-मूल्यों के विकास में भावनाओं का महत्व	अनुराधा बनर्जी
३.	जीवन में कैसे सफल हुआ जाय: कुछ सूत्र	अजित नारायण त्रिपाठी	९.	अच्छ व्यक्ति बनने के लिए गाँधी जी हमें क्या प्रेरणा देते हैं?	चन्द्रकला पाडिया
४.	मैत्री भावना: अंतः चेतना का विकास	धर्मेन्द्र कुमार मिश्र	१०.	व्यक्तित्व विकास में परिवार की भूमिका	चन्द्रकला पाडिया
५.	आज के जीवन में हम कैसे मानसिक रूप से स्वस्थ रहे	चन्द्रमाल द्विवेदी	११.	हमारे सामाजिक दायित्व व उनका निर्वाहन हम कैसे करें?	शैलजाकांत मिश्र
६.	प्रतिभागियों के साथ 'सहसंवाद' विषय: विद्यार्थी जीवन की चुनौतियाँ और समाधान	पवन सुधीर	१२.	प्रतिभागियों के साथ संवाद	पवन कुमार तिवारी
			१३.	भारतीय संस्कृति का आज के जीवन में महत्व	विभा त्रिपाठी
			१४.	युवा वर्ग की समस्याएँ और समाधान	अजय तिवारी
			१५.	पर्यावरण संरक्षण और संवर्धन के लिए हम क्या करें?	सिद्धनाथ उपाध्याय
			१६.	विन-विन	गिरीश पाण्डेय
			१७.	भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में एक अच्छे समाज की परिकल्पना	डी० पी० वर्मा
			१८.	साक्षात्कार: कैसे सामना करें	बी० वी० बंसल

१९. कैसे साहित्य मानव मूल्यों का परिष्कार करता है? अवधेश प्रधान
२०. जीवन के प्रति समग्र-दृष्टि आनन्द मिश्र
२१. भारत मैं हूँ ना शुभ नारायण सिंह
२२. विश्वविद्यालयीय शिक्षा से हम क्या चाहते है? सुभाष चन्द्र लखोटिया
२३. स्वतंत्रता संग्राम से हम क्या प्रेरणा ले सकते है? अखिलेश कुमार त्रिपाठी
३. भावनात्मक क्षमता एवं उसका विकास (१) डा० पूनम देवदत्त
४. भावनात्मक क्षमता एवं उसका विकास (२) डा० पूनम देवदत्त
५. नेतृत्व क्षमता एवं उसका विकास अजित नारायण त्रिपाठी
६. अभ्यास सत्र प्रथम-अपने आप से परिचय अजित नारायण त्रिपाठी

(२)

“जीवन मूल्य एवं मानवीय क्षमताओं का विकास”

द्वितीय सघन कार्यशाला: नवम्बर ०७ से नवम्बर १७, २००५ तक

स्थान:

महिला अध्ययन एवं विकास केन्द्र, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

क्रम सं०	विषय	वक्ता
१.	नैतिक क्षमता एवं उसका विकास	अजित नारायण त्रिपाठी
२.	बौद्धिक क्षमता एवं उसका विकास	अजित नारायण त्रिपाठी

७. अभ्यास सत्र द्वितीय(१)
१० बजे से १ बजे तक
परस्पर सहमति एवं उसकी क्षमता का विकास धर्मेन्द्र कुमार मिश्र
भोजनावकाश १ से २ बजे तक
- (२) २ से ५ बजे तक
सृजनात्मक क्षमता एवं उसका विकास अजित नारायण त्रिपाठी
८. मूल्यनिष्ठ जीवन के कुछ व्यवहारिक सूत्र (१) ज्ञान पाण्डेय
९. मूल्यनिष्ठ जीवन के कुछ व्यवहारिक सूत्र(२) ज्ञान पाण्डेय

(१) १० बजे से १ बजे तक भोजनावकाश १ से २ बजे तक			6-S6: Emotional Intelligence	Poonam Devdutta
(२) २ से ५ बजे तक जीवन और समाज की समझ (१)	पवन कुमार गुप्त		7- S7: Managing one's self	Poonam Devdutta
१०. जीवन और समाज की समझ (२)	पवन कुमार गुप्त		8- S8: Spiritual Values I	S.K.Chakraborty
११. पुनरावलोकन समापन (३)			9- S9: Creativity and Innovation	R.K.Pandey
उत्कृष्टता की खोज: मानवीय मूल्यों की परिधि में दिसम्बर ५ से दिसम्बर १०, २००५ तक			10- S10: Practice Sessions 1&2	A.N.Tripathi
S.No.	Subject	Speaker	Assessing corporate value climate:	R.K.Pandey
1-	SI: Introduction to the Work- shop: a Holistic view of Exce- llence and Human values	A.N. Tripathi	11- S11: Values issues and value conflicts	P.S.Tripathi
2-	S2: Moral Values	A.N. Tripathi	12- S12: Spiritual Values II	S.K.Chakraborty
3-	S3: Changing Corporate Ethos	P.S. Tripathi	13-S13: Inter-personal Relationship	R.K.pandey
4-	S4: Moral Competence	A.N.Tripathi		
5-	S5: A Holistic View of Organisational Excellence	P.S.Tripathi		

एक गीत लिख तू

14-S14: Practice Sessions

3&4

A.N.Tripathi

प्रदीप कुमार चौधरी

15-S15: Searching for
solutions to value
problem

P.S.Tripathi

ये कलम

एक गीत लिख तू!

वक्त के इस दर्द में भी

एक नया संगीत लिख तू॥

16-S16: Building a

Cultural Organisational R.C.Sharma

हर तरफ है दुश्मनों की

क्रूर दृष्टि

पाल रखी है उसने

अनल वृष्टि

प्रेम की वो गंध वाली प्रीति लिख तू।

JNANA-PRAVAHA

17-S17: Leadership for
Organisational
Excellence

Swami Chidanand

वक्त के

जिन्दगी के हर मोड़ पर

छाया अंधेरा,

कब मिलेगी मुक्ति मुझको

डाल रखा है जो डेरा,

इस पहर में नया दिव्य ज्योति लिख तू।

वक्त के.....।

18-S18: Building and
Nurturing Teams

Swami Chidanand

19-S19: Intellectual
qualities

A.N.Tripathi

इस शहर का हर कोना

झाँक आया,

अजनबी के सिवा यहाँ

कुछ न पाया,

पहचान वाली गाँव की वह रीति लिख तू।

वक्त के

20-S20: Practice Session
5 Value based
decision-making

पर अभी भी आशा है

मन में,

जागरण लाया जा सकता है, जन में

धर्मचारों की भला नवनीति लिख तू।

वक्त के.....।

21-S21: Institutionalising

ethics and human values A.N.Tripathi

22-MEDITATION

A.K.Agrawal

—एम० ए० (अंतिम वर्ष) हिन्दी
(का०हि०वि०वि०)

अब्राहम लिंक्न का पत्र प्रधानाध्यापक के नाम

आदरणीय गुरुजी,

सभी आदमी न्यायप्रिय नहीं होते

होते नहीं सब सत्यनिष्ठ!

मेरा बेटा सीखेगा यह

कभी—न कभी!

मगर उसे यह भी सिखाइए—

दुनिया में हर बदमाश की तरह

होता है एक साधुचरित पुरुषोत्तम भी।

स्वार्थी राजनीतिज्ञ होते हैं दुनिया में जैसे,

होते हैं उसी तरह पूरी जिन्दगी निष्ठुर करने वाले नेता भी।

होते हैं घात में बैठे दुश्मन अगर

तो मेहरबान मित्र भी होते हैं।

मैं जानता हूँ

सभी बातें झटपट नहीं सिखाते बनती...

फिर भी, हो सके तो उसके मन में जगाइए

‘पसीना बहाकर कमाया हुआ एक पैसा भी

फोकट में मिले खजाने से ज्यादा मूल्यवान है।’

सिखाइए उसे कैसे झेलते हैं हार

और सिखाइए, जीत की खुशी में संयम।

अगर आपमें ताकत हो तो

सिखादए उसे

ईर्ष्या और द्वेष से दूर रहना।

सिखाइए उसे

अपना हर्ष भी संयम से दिखाना।

कहना, गुंडों से मत डर जाना,

क्योंकि सबसे आसान होता है

उन्हें झुकाना।

जितना बन पड़े दिखाया कीजिए उसे

किताबों में छिपा अद्भुत खजाना,

पर साथ—ही—साथ

दीजिए उसके जी को जरा फुरसत

कि सृष्टि की सनातन सुन्दरता महसूस कर पाए।

देख पाए वह

चिड़ियों की ऊंची उड़ान...

सुनहली धूप में मंडराते भौरे...

और हरीभरी पहाड़ी की ढलान पर

झूमते नन्हे—नन्हे फूल।

पाठशाला में उसे सबक मिले—

‘बेईमानी से पाई सफलता से

हजार अच्छी है

असफलता।’

यह सिखाइए कि

अपने विचारों और अपनी सूझ—बूझ पर

पक्का विश्वास रखे,

भले ही सब लोग उसे गलत ठहराएं।

वह भलों के साथ भलाई बरते और

टेढ़ों को सबक सिखाए।

मेरे बेटे को विश्वास दीजिए कि

विजय के झंडे के नीचे खड़े होने को दौड़ती भीड़ में

शामिल न होने का साहस जुटाए।

और यह भी समझाइए उसे

कि सुने सबकी, हर एककी...

पर छान ले उसे सत्य की चलनी में

और छिलका फेंककर

ग्रहण करे विशुद्ध सार।

बन पड़े तो उतारिए उसके मन में—

‘हंसते रहो हृदय का दुख दबाकर।’
कहिए कि आंसू बहाते शरमाए नहीं वह...

सिखाइए उसे,
ओछेपन को ओछा मानना
और चाटुकारी से सावधान रहना।
उसे पक्की-पूरी तरह समझाइए कि
खूब कमाई करे ताकत और अक्ल की लागत से,
लेकिन कभी भी न बेचे अपना हृदय, अपनी
आत्मा।

धिक्कारती हुई आती है भीड़ अगर,
तो अनदेखा करना सिखाइए उसे,
और लिखिए उसके हृदय पर
जो सत्य जान पड़े, न्यायोचित लगे
उसकी खातिर धरती में गड़ाकर पांव लड़ता रहे,
अंत तक।

उसे ममता दीजिए मंगर
लाड़ करके मत बिगाड़िए।
आग में जल-तपकर निकले बिना
लोहा मजबूत फौलाद नहीं बनता।
उसे आदत डालिए कि
अधीर होने का धीरज संजोए,
और धीरज से काम ले वह
अगर दिखानी है बहादुरी...
हमें विश्वास चाहिए स्वयं का मजबूत
तभी जमेगी उदात्त श्रद्धा मनुष्य जाति के प्रति।

क्षमा कीजिए गुरुजी,
मैं बहुत बोल रहा हूँ,
बहुत-कुछ मांग रहा हूँ...
फिर भी देखिए...जितना बने, कीजिए जरूर।

००

—अब्राहम लिंकन

सच

छाया कुमारी

एक तो प्रकृति का तूफानी लहर
उसपर मानव की क्रूरता का भयावह जहर
स्तब्धकारी भयावह लहरों ने उन्हें
अनाथ या बेघर बना दिया था कि....
ठीक उसी समय
मानवद्रोही प्रकृति के अपराधी गिरोह
उन मासूमों को
देह व्यापार जैसे घिनौने कृत्य में ढकेल रहे
इससे भी जी नहीं भरा तो
कहीं मंदिर की सीढ़ियों पर भीख मंगवाते रहे
तो कहीं देह बेचने को बहकाते रहे
क्यों हम निसहायों को इस तरह सताते हो?
एक तो प्रकृति ने हमें मार डाला है
उससे जो कुछ बच गया तो
देह व्यापार ने शर्मशार कर डाला है
क्या तुम्हारी संवेदना मर चुकी है?
जो मनुष्यता का ऐसा भयावह मिशाल पेश कर रहे हो
और
हमें देह व्यापार के बारूदी सुरंग में ढकेल रहे हो
अब और नहीं
तोड़ डालो इस क्रूरता के जाल को
क्योंकि
हमारी सभ्यता की आँखों के तारे हैं ये बच्चे
बड़े अबोध हैं इतिहास के मारे ये बच्चे
इनका जीते-जी कत्ल मत करो
कल-के स्वर्णिम इतिहास को
दुहराने वाले हैं ये बच्चे

(राहत शिविर की खबरों पर आधारित कविता)

—स्नातक (द्वितीय वर्ष) महिला
महाविद्यालय का०हि०वि०वि०